फिर फूले पलाश तुम

निबंध

नर्मदा प्रसाद उपाध्याय

श्रीकान्त वर्मा विचार मंच
भोपाल

प्रकाशकीय

'फिर फूले पलाश तुम'– निबन्धों को छापने के पीछे समकालीन गद्य को प्रकाश में लाने का उद्देश्य है। इसी क्रम में हम अन्य कई रचनाकारों की रचनाएँ छापेंगे।

नर्मदाप्रसाद उपाध्याय के निबन्धों से आप भलीभांति परिचित होंगे। इन निबन्धों में आपको हिन्दी गद्य–पद्य परम्परा की अन्तःसलिला दिखेगी। कबीर की फटकार से लेकर हरिशंकर परसाई की तल्ख़ी इनमें धीमे–धीमे सांस ले रही है। उपाध्याय जी कुछ 'बना लेने', कुछ 'बन जाने' या कुछ 'साध लेने' के विरुद्ध बेचैन आत्मा हैं, आज की विषम स्थितियों से क्षुब्ध हैं। यह 'क्षुब्धता' ही इन निबन्धों की ताक़त है। बड़े विषय से नहीं, वरन् छोटी–छोटी नामालूम–सी, लगभग त्याज्य घटना को उपाध्याय जी व्यापक अर्थ देते हैं। हमारी दुखती रग पर उंगली रख संकेत करते हैं कि दर्द कहाँ है।

इन निबन्धों को छापते हमें खुशी है कि हम अपने जातीय गद्य के ठाठ को जिसमें हिन्दुस्तानी जनता का सुख–दुख प्रतिबिम्बित है– आपके सामने प्रस्तुत कर पा रहे हैं।

– बृजनारायण शर्मा

अनुक्रम

सुनो तो सही !
पुनरावृत्ति से पगडंडी तक
स्वागत भोज से स्वागत भाव तक
उत्सव : रचें कुछ थिरकनें
जागिए रघुराज कुंवर
अंधेरे के आलोक पुत्र
नदी तुम बोलती क्यों हो?
नीलकण्ठ तुम नीले रहियो...
सर्जन फिर विसर्जन या फिर सर्जन
फिर फूले पलाश तुम
गुलमोहर गर्मियों के
एक भोर की जुगनू
फिर पत्थरों के गाँव
मेरे अधूरे बाज़ार पर
मोम–नदी के तट से
तृप्ति से तृष्णा का जागरण
निबन्ध नहीं होता पूरा
राजधानी में लोकधानी तलाशते हुए
शिखर से बोलते हुए
कुम्भ का मेला, मैं भीड़ में अकेला
बीते बरस, आए बरस

सुनो तो सही !

ऐसे जाने कितने लोग हैं आसपास जो जैसा बोल रहे हैं, वैसा जी रहे हैं, जैसा सोच रहे हैं, वैसा कर रहे हैं, जिनकी कोई आंकांक्षा नहीं बची, जिन्होंने अपनी ज़िद में जिसे हम 'कैरियर' कहते हैं बर्बाद कर लिया, उनकी कोई सुनता क्यों नहीं ?

वे जब बोलते हैं तो लगता है कितना खरा है यह शख्स, लेकिन उसके बोलने के बाद कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, वह बोलता रहता है और हम मौन बने रह जाते हैं। हम चाहते हैं कि यह आदमी इसी तरह सच्चा और खरा बोलता रहे, इसके बोलने और करने की निरन्तरता बनी रहे लेकिन हमारा मौन नहीं टूटता। मौन का हम औचित्य ढूंढ लेते हैं क्योंकि दुनिया में सबसे सरल काम यही है। शराब पीने के इतने औचित्य दिये जाते हैं कि बिना पीनेवाला निरुत्तर हो जाता है। हम हमारे मौन को बनाए रखना चाहते हैं क्योंकि यही मौन हमारे शुतुरमुर्गी अस्तित्व की रक्षा करता है। हमारे गिरगिटिया व्यक्तित्व को क़ायम रखता है, हमारे सुख, हमारी सुविधा को बनाए रखता है, कोई चुनौती सामने आ जाए तो बचकर निकल जाने की जुगत भिड़ा लेता है। मौन बने रहने के अपने फायदे हैं और नुकसान तो शायद ही कोई हो।

यों दुनिया में मौनियों के मुक़ाबले वाचाल ज़्यादा हैं। आसपास देखें जाने कितने बोलनेवाले हैं। चारों ओर वक्ता ही वक्ता हैं। जो श्रोता हैं वे भी वक्ता हैं, उनका जब वक्त आता है तो वे भी उठकर बोलने लगते हैं। हर सुनने वाले का भी समय आता है जब वह बोलने लगता है। आज सबसे ज़्यादा ध्वनि प्रदूषण आदमी के बोलों का है। राजनेता बोलते हैं, समाजसेवी बोलते हैं, संस्कृतिपुरुष बोलते हैं, धर्मपुरुष बोलते हैं, शिक्षाशास्त्री बोलते हैं और अनगिनत व्याख्याता ऐसे हैं जो मासिक वेतन केवल बोलने का ही पाते हैं लेकिन इन तरह–तरह के बोलों के बीच. क्यों कोई शब्द उठकर आन्दोलित नहीं करता ? क्यों ये सारे बोल ऐसे शोर में बदल जाते हैं जिस शोर का कोई अर्थ नहीं निकलता ? इस अर्थहीन शोर का सिलसिला क्यों ख़त्म नहीं होता ?

ऐसे कई सवाल हैं जिनके जवाब हमारे पास नहीं हैं क्योंकि या तो हम मौन रहते हैं या फिर सिर्फ बोलते हैं और जो संकल्प लेकर कुछ करने की गरज़ से बोल रहा है उसे अनसुना करने में अपनी पूरी ताक़त लगा देते हैं क्योंकि उसे सुन पाना हमारे जैसे दोहरे मानदण्डों के साथ जीनेवाले लोगों के लिए बहुत मुश्किल है।

ऐसे बर्बाद लोगों को सुनकर अपने बोलने या मौन बने रहने के समय को क्यों बर्बाद किया जाए ? हम चाहते हैं कि ऐसे बर्बाद लोग बोलें और बोलते रहें, सच्चा और खरा बोलते रहें, हमारे सुननेवालों को कोसते रहें लेकिन हम यह कभी नहीं चाहते कि उसके बोलने के हम कुछ अर्थ निकाल लें और उन अर्थों को अपने कृतित्व में सहेज लें। यदि ऐसा होता रहता तो इस नस्ल के लोग जाने कब से खत्म हो गए होते मगर ऐसा हुआ नहीं और शायद होगा भी नहीं। क्योंकि दोहरे मानदण्डों के साथ जीने के सिलसिले के समाप्त होने का अभी वक़्त

नहीं आया। यह वक़्त पहिले भी कभी नहीं आया। महाभारतकार चिल्लाता रहा कोई सुनो मेरी, मेरी कोई सुनता ही नहीं लेकिन व्यास को उस वक़्त के लोगों ने अनसुना कर दिया। ऐसे जाने कितने महामानव हैं जिन्हें अपने समय में अनसुना कर दिया गया लेकिन जिनकी वाणी को आज सहेजा जा रहा है। यह भाग्य या सृष्टि की विचित्रता नहीं मनुष्य की अपनी विसंगति है। इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं उन लोगों की वाणी से जो अपने समय में अनसुनी कर दी गयी और उस समय की अनसुनी वाणी आज बड़े ध्यान से सुनी जा रही है, उसका पाठ हो रहा है, जाप हो रहा है लेकिन विडम्बना फिर भी यही बनी हुई है कि उस वाणी को अपने कर्म में साकार नहीं किया जा रहा। ये सारी वाणियाँ लिपिबद्ध होकर पूजागृहों की शोभा बढ़ा रही हैं और रोज़ जाने कितने अधखिले फूल तोड–तोड कर असमय उन पर चढ़ाये जा रहे हैं।

ये बड़े प्रासंगिक सवाल हैं जो खड़े हैं हमारे सामने और जाने कब से खड़े हैं और खड़े भी रहेंगे। इन्हें हल नहीं किया गया, इसका समाधान नहीं खोजा गया। जाने कितनी पीढ़ियाँ इन्हीं सवालों से बचती रही हैं, जाने कितने युग ऐसे दो चार बर्बाद होने वाले व्यक्तित्वों को जन्म देकर बिदा होते रहे हैं, असंख्य दिन डूब गए, असंख्य रातें बीत गईं, अनगिनत सांझों की देहरी लांघ कर दिन चुपचाप रात के सन्नाटे में खोते रहे और इन सवालों से बचते रहे। तो क्या हम भी वही करें जो हमारे आदि पूर्वजों ने किया ? क्या हम भी इन्हीं सवालों से बचकर निकल जाएँ और अपनी प्रासंगिकता को खत्म कर लें।

आज यदि हम प्रासंगिक हैं और ये प्रश्न हमारे सामने हैं तो इन प्रश्नों के समाधान खोजने का दायित्व भी हमारा है।

कैसे हमारा मौन टूटे ? कैसे ध्वनि सागर के बीच से कोई एक शब्द तरंग भी उठे जो हमें आंदोलित कर दे? कैसे हो पाए ऐसा कि जिन खरा और सच्चा बोलने वाले कर्मपुरुषों को हम अनसुना कर रहे हैं उन्हें ध्यान से सुन लें और कोशिश करें कि उनकी वाणी हमारे आचरण में कुछ तो उतरे ?

समाधान बाहर खोजने से नहीं मिलेंगे। समाधान इन सनकी और जिद्दी पुरुषों को अनुसना करने से, उनकी खिल्ली उड़ाने से उनकी आलोचना कर अपनी अकर्मण्यता के औचित्य को खोजने से नहीं मिलेंगे। समाधान मौन रहने या निरन्तर वाचाल रहने से नहीं मिलेंगे। समाधान तो अपने अन्दर मिल जाएँगे। बिना खोजे, बिना टटोले, सिर्फ उनकी पहिचान ज़रूरी है। यदि विचार करें तो पाएँगे कि ऐसा ही जिद्दी, सनकी और अपने तथाकथित कैरियर को तबाह करनेवाला एक व्यक्तित्व हमारे अन्दर ही बैठा है जो बदल देना चाहता है बहुत कुछ, जिसमें नया गढ़ने और पुराना तोड़ने की गहरी चाह है, जिसके मन में वितृष्णा है इस उपभोक्तावाद के प्रति, जो मन से चाहता है जैसा सोचें, वैसा ही बोलें और करें लेकिन हम इस अन्तर–व्यक्तित्व को सुषुप्त रखना चाहते हैं, उसे जाग्रत नहीं करना चाहते, जब कभी वह करवट लेने लगता है उसे दुलार कर थपकियां देकर सुला देते हैं। हमारा यही कृत्य इन प्रश्नों को खड़े रखता है, यदि हम अपने में समाए इन व्यक्तित्व को वही करने दें जो उसकी

मर्जी है तो इन सवालों के जवाब अपने आप मिल जाएँगे। हम दो हैं अपने आप में इन द्विजत्व से मुक्ति ज़रूरी है। हमारे सुषुप्त अन्तरव्यक्तित्व पर हमारा बाह्य व्यक्तित्व हावी है।

उस अन्तरव्यक्तित्व की मुक्ति चाहिए, जागृति चाहिए, उसकी स्वतंत्रता चाहिए। जिस दिन वह स्वतंत्र हो जाएगा इन सारे प्रश्नों के हल मिल जाएँगे और तब यह गुंजाइश ही नहीं रहेगी कि फिर कोई आनेवाला युग सिर्फ दो, चार सनकी और जिद्दी व्यक्तियों को हमें सौंपे, फिर तो हर युग, प्रत्येक ऐसा व्यक्ति ही जन्मेगा जो अपने व्यक्तित्व में एक होगा। विचार और कर्म के धरातल पर, जिसमें कोई भिन्नता नहीं होगी, फिर जिद्दी और सनकी किन्हीं दो चार को नहीं कहा जा सकेगा। यह नस्ल अपने आप खत्म हो जाएगी क्योंकि तब एक ही नस्ल होगी– एक–से मानदण्डों वाले मनुष्यों की जाति।

मानदण्ड इकहरे होंगे तो आने वाले मनुष्य के मेरूदण्ड झुकेंगे नहीं। उन्हें नमन करें जिन्हें सनकी कहते हैं क्योंकि हमारे मेरूदण्ड दोहरे मानदण्डों के कारण झुके हुए हैं, उनका आशीर्वाद लें कि आपके मेरूदण्ड जो तने खड़े हैं उनके तनकर खड़े रहने वाली इच्छाशक्ति का वरदान हमें सौंप दों।

पुनरावृत्ति से पगडंडी तक

बार–बार यदि पुनरावृत्ति हो तो फिर चाहे शब्द हों या घटना वे महत्वहीन तो हो ही जाते हैं। यह भी होता है कि हमारा मानस उनके प्रति प्रतिक्रियाहीन हो जाता है। रोज़ सूरज का उगना, रात का आना या बार–बार किन्हीं शब्दों का उच्चारण हमें कहीं उद्वेलित नहीं करता, कहीं विवश नहीं करता कुछ करने को। बार–बार राम–राम, कृष्ण–कृष्ण रटते रहो या बार–बार विषमता, विसंगति, अन्याय और शोषण को पढ़ते रहो तो उनकी व्यंजना ख़त्म हो जाती है। दिन में एक बार राम या कृष्ण को न भजें सिर्फ एक बार उनका स्मरण कर उनके कृतित्व की असीमित परिधि के बीच अपने मन को घुमा लें तो यह हज़ार गुने सार्थक है बजाय इसके कि इन महान व्यक्तित्वों के नाम को हज़ार बार उच्चरित किया जाए। वैषम्य, असमानता और शोषण को बार–बार पढ़ने की बजाय या नारों की तरह उनका इस्तेमाल करने की बजाय, उन्हें लिखकर अपने को नितान्त प्रगतिशील कहलाने की बजाय यदि इतना सबकुछ किए बगैर अपना दायित्व समझते हुए इनके खिलाफ जूझने की कोशिश कर लें तो इन शब्दों की व्यजंना सार्थक हो जाए। हम व्यंजना में नहीं जाते। चलें जाएँ तो पुनरावृत्ति न हो और पुनरावृत्ति न हो तो इन शब्दों की सच्ची अर्थवत्ता जान पड़े, उद्वेलन और कुछ कर पाने की प्रेरणा देखने, विभोर होने का अभिनय करने या जूझने की मुद्रा साधने से कभी नहीं आती वह उन शब्दों के सीमित अक्षरों में समाई विराट व्यंजना से आती है, वह अभिनय से नहीं, अनुभूति से आती है, प्रतीक से नहीं आती, प्रतीति से आती है, दर्शक भर बने रहने से नहीं आती, सर्जक बन सकें इस भाव को धारण करने की प्रबल इच्छाशक्ति के कारण आती है।

इस पुनरावृत्ति को त्यागना होगा। एक ही तरह की घटना घटे, एक ही तरह के शब्द बार–बार इस्तेमाल हो यह प्रक्रिया थमनी ज़रूरी है।

पुनरावृत्ति होना बड़ा रचनात्मक भी है। कर्म की बार–बार पुनरावृत्ति, जूझने के लिए तत्परता की पुनरावृत्ति, कुछ बनाने के लिए बार–बार हाथों को ईट रखने के लिए प्रेरित करने की पुनरावृत्ति, ऐसे जाने कितने उदाहरणों के जरिए यह सीखा और जाना जा सकता है कि पुनरावृत्ति करना कितना रचनात्मक भी है। मगर यह नहीं होता और जो होता है वह बिल्कुल गैर रचनात्मक और सृजन विरोधी होता है, प्रतिक्रियाहीन और उद्वेलनहीन होता है। आज ऐसी पुनरावृत्ति की कोई जरूरत नहीं, प्रासंगिकता नहीं। रचनात्मकता की पुनरावृत्ति होगी तो नए सतयुग, द्वापर और त्रेता जन्मेंगे, नए नारायण जन्मेंगे, राम जन्मेंगे, श्याम जन्मेंगे। इनके नाम की बार–बार पुनरावृत्ति न हो, इनके जन्म जाने के लिए किए जाने वाले प्रयासों की पुनरावृत्ति हो तो शब्द की व्यंजना में पहुंच जाने का संकल्प पूरा हो जाएगा। आज समूचे देश को, समाज को इसी पुनरावृत्ति की ज़रूरत है।

एक और शब्द है पुनर्जागरण जिसे अंग्रेज़ी में रिनांसां भी कहते हैं। इतिहास ने कई पुनर्जागरण गिनाए हैं। यूरोप के पुनर्जागरण, भारत के पुनर्जागरण अर्थ यह कि पहिले जाग

रहे थे फिर सो गए, ठोकर लगी कोई तो फिर जाग गए। यह शब्द खटकता है। जाग गए तो फ़िर जागते रहते, दो जागरणों के बीच सोने का लंबा अंतराल खटकता है, और इसी अंतराल के कारण, जागरण की निरन्तरता भंग होने की वजह से इतिहासकार पुनर्जागरण कहने को मजबूर हुए। ऐसा जागरण हुआ ही नहीं कि जिसका नैरन्तर्य भंग नहीं होता। निराला को टेर लगानी पड़ी "जागो फिर एक बार"। ऐसा जाने कितनी बार हुआ कि जगाना पड़ा बार–बार। क्यों ऐसे सोए कि जगाने के लिए ठोकर लगानी पड़ी, झकझोरना पड़ा, टेरना पड़ा, चिल्लाना पड़ा, ऐसा भी सोया जा सकता था कि एक स्वाभाविक नींद आती, आंखें समय पर खुल जातीं, पता ही नहीं चलता कि कभी सोए भी। लेकिन इतिहास ऐसी बेसुध निद्राओं के अध्यायों से भरपूर है। जगाने के लिए यल करने पड़े, जिसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य की इस निष्क्रियता के कारण मनुष्यता की यात्रा की गति मंथर हो गई, धीमी हो गई और यह पश्चाताप सदैव बरकरार रहा कि हम मंजिल पर नहीं पहुंच पाए। अवांछित पुनरावृत्ति की तरह पुनर्जागरण न हो यह भी प्रयास करना होगा। जागने की निरन्तरता भंग न हों, बेसुध न सोने पाएँ यह साधना होगा।

यह क्यों होता है पुनः या पुर्न ? क्यों बार–बार दुहराव होता है, ऐसा निर्मम दुहराव कि संवेदना मर जाती है, मनुष्यता के विकसितं होने की यात्रा की गति धीमी हो जाती है, कोसने और पछताने का भाव खत्म ही नहीं होता। शायद इसलिए कि दुहराव उन्हीं शब्दों और घटनाओं का होता है जो सर्जनात्मकता के लिए कतई ज़रूरी नहीं हैं और उन शब्दों और घटनाओं का दुहराव नहीं होता जो निर्माण के लिए बेहद ज़रूरी हैं। पूरे इतिहास और वांङमय की परम्पराओं से भरपूर इस देश में अनगिनत किंवदंतियों के रूप में, उदाहरणों के रूप में पुनरावृत्तियाँ और पुनर्जागरण मिल जाएंगे लेकिन उनका उल्लेख फिर एक संवेदनशून्य पुनरावृत्ति को जन्म देगा इसलिए उनका ज़िक्र ज़रूरी नहीं। जो प्रासंगिक है वह है अपने वर्तमान से जुड़ना, उसे समझना, उसे साधने की कुछ इस तरह कोशिश करना कि अवांछित पुनरावृत्तियों से बचते हुए कुछ ऐसा बना जाएँ, न भी बना पाएँ तो ऐसी आधारशिला उस भविष्य के लिए रख जाएँ जो इस ईमानदार प्रयास को रेखांकित करे कि इस पीढ़ी ने इतना तो किया कि जगा दिया, सचेत कर दिया कि ग़ैरज़रूरी पुनरावृत्तियों से बचा जा सके। इतना ही हो पाया तो बहुत बड़ी उपलब्धि होगी।

आज है क्या? एक बँधी लीक, ऐसी सड़कें जो एक ही दिशा की ओर ले जाती हैं, उनपर सिर्फ पांवों के निशान और उन निशानों पर फिर निशान। हमने पगडंडियों के रास्ते छोड़ दिये जिनके आसपास भले बबूल के जंगल हों, जो नितान्त वीरान और सूनी हों मगर जो लीक से हटकर चलना सिखाती हैं, पांवों को साहस देती हैं, मन को उत्कंठा देती हैं, हर आने वाले प्रभात के प्रति यह आशा देती है कि इस प्रभात्त के प्रकाश में वहां पहुंच सकेंगे जहां कभी पहुंचा नहीं गया। सड़क तो हर रोज अपने निश्चित गंतव्य तक पहुंचा देती है मगर पंगडंडी वहां पहुंचाने का प्रयास करती है जो अछूते गंतव्य हैं और बाट जोह रहे हैं कि कोई

वहां पहुंचे। मनुष्य की यात्रा तब तक अधूरी है जब तक इन अछूते गंतव्यों तक नहीं पहुंचा जाता।

आज भी ऐसे बहुतेरे गंतव्य हैं जहां पहुंचना है। इन तक किसी सुगम रास्तों से नहीं पहुंचा जा सकता, किसी "शार्ट कट" से नहीं पहुंचा जा सकता। इन तक पहुंचने लिए श्रम, साधना और लगन आवश्यक है। इन तक पहुंचना इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि इन तक पहुंचे बिना मनुष्यता की यात्रा को अधूरे ही बना रहना है और यह यात्रा अधूरी ही बनी रहेगी यदि अवांछनीय पुनरावृत्तियां जारी रहीं, पुनर्जागरण बार–बार होते रहे।

इन्हें विराम दें। पहुंचें शब्दों की व्यंजना में घटनाओं की गहराई में और ले चलें पांवों को उन पगडंडियों की ओर जो दुहराव से मुक्ति देंगी और जिन पर पड़े पांवों के निशानों को कभी धूमिल नहीं होना है।

स्वागत भोज से स्वागत भाव तक

जानें कितने तो दृश्य हैं। देखते देखते आँखों में चित्रों का सागर लहराने लगता है। जीवंत चित्र जिन्हें दृश्य कंह देते हैं। भीषण गर्मी है, लू चल रही है, यो पसीना निकल रहा है लेकिन तुरंत वाष्पीभूत हो उड़ रहा है। सड़क पर जिप्सी दौड़ रही है, सड़क पर डामर पिघल रहा है, चारों ओर मुरझाए वृक्ष खड़े हैं या सपाट जमीन से उड़ती धूल के बगूले घूमतें दीख रहे हैं, अचानक नज़र पड़ती है। आगे सड़क कुछ चौड़ी हो गई, घने आम के झाड़ों की कतार है, धूप से राहत है, आम के वृक्षों पर हरी हरी कैरियाँ लटक रही हैं, दो ट्रैक्टर रुक गए हैं, उनमें जुड़ी ट्रालियों से बाराती उतर रहे हैं, दरी आम्र वृक्षों की छाह में बिछ रही है। दूल्हे राजा ने बढ़िया साफा बांध रखा है, पैंट, पैंट के ऊपर शर्ट जिसका आधा हिस्सा पैंट के अन्दर है, लाल जूते, कटार लटक रही है और उसी के साथ नकली मातियों से टँका बटुआ और हाथ में छोटी सी सरौंती, आंखों में काजल, एक मित्र आगे, बगल में शायद जीजाजी जो उनका हाथ पकड़े हैं। दूल्हे राजा आंकर दरी पर बैठ गए। ट्रालियों से नुकती, सेव पूड़ी के थैले निकलने लगे। पास के खेत में एक ट्यूबवेल है। तीन चार लोग बाल्टी लिए दौड़ गए पानी भरने, खेत में केले के झाड़ हैं, मेड़ पर कई खांखरे के झाड़ हैं, उनके पत्ते तोड़े जाने लगे। दरी पर पत्ते बिछ गए हैं। खांखरे के पत्तों के दोने बनाए जाने लगे, कैरियाँ तोड़ी जाने लगीं। इन दोनों में इन कैरियों का रस परोसा जाएगा; स्टोव जल गए, तपेले चढ़ गए, कैरियाँ उनमें डाली जाने लगीं। पंगत जम गई। अगला पड़ाव शायद दूर है, पहुंचते पहुंचते शाम होगी इसलिए लंच हो रहा है। हँसी ठट्ठा हो रहा है, दूल्हें के पिताजी अपनी बारात के संस्मरणं सुना रहे हैं, उस अमराई का जिक्र कर रहे हैं, जहाँ उनकी बारात ने पड़ाव डाला था तब ट्यूबवेल नहीं थे तो कुंए से पानी निकाला जाता था। उनकी बारात में जो शामिल थे उनमें से कुछ हम बारात में भी हैं, जहां कहीं संस्मरणों में कुछ भूल होती है, उसे सुधारते हैं, अपनी तरफ से जोड़ते हैं, पुरानी बारात की याद शिकायत से हो आई है। ट्रैक्टर भी नहीं थे, बैलगाड़ियों के काफिलों में बारात जाती थी और बैलों की विशेष महत्ता थी। वे ही तो शान हुआ करते थे समृद्ध बारात की। उमंग में दूल्हे के पिता खुद दूल्हे बन गए हैं, खूब हो–हो, हो रही है। गाने गाए जा रहे हैं, कहीं किसी लू का, तपन का, भीषण गर्मी का अहसास नहीं, उमंग और उल्लास की वर्षा ने सभी को तरोताज़ा कर दिया। हरियाले आम के वृक्षों के नीचे हरियाए हुए, बाराती और उनके बीच बैठा सलोना हरियाला बन्ना। किसी को गर्मी की शिकायत नहीं, लू के थपेड़ों से परहेज नहीं बल्कि सभी कह रहे हैं, गर्मी अच्छी पड़ेगी तो बरसात भी अच्छी होगी।

गाड़ी आगे बढ़ती है तो देखता हूं गुलमोहर के बले एक बैलगाड़ी रुकी, गुलमोहर के फूलों सी सुर्ख साड़ी में लिपटी आंखों में काजल आंजे, ढेर–सी हरी चूड़ियां पहिने, माथे पर बड़ी–सी टिकुली लगाए, पांवों में चांदी के वज़नी कड़े पहिने नववधू को उसकी सखियां सजी धजी बैलगाड़ी से नीचे उतार रही हैं, गुलमोहर के बाजू में बोगनबेलिया फैला है और उसके रंग बिरंगे फूल इस वधू की अगवानी कर रहे हैं, पास ही मंदिर है और दरगाह भी। पूरी

बारात उतरेगी यहां, पास की बावड़ी में उतरकर पानी पिया जाएगा, हाथ मुंह धोए जाएंगे, फिर मंदिर में वर–वधू दर्शन करेंगे और दरगाह पर मन्नतें मांगेंगे। नारियल चिरोंजी का परसाद चढ़ाया जाएगा। यह वधू को ब्याह कर लाने वाली लौटती बारात है।

शाम हो चली, आगे एक गांव आया। एक घर के सामने मंडप बना है। उस पर हरे पत्ते बिछे हैं। मंडप के सामने पीली लकड़ियों जो हल्दी से पुती हैं, का एक चौखुटा लटका है। बड़ी चहल पहल है। लोग पाँत पर पाँत कंधे पर अंगोछा डाले बैठे हैं। पत्तलें बिछाई जा रही हैं, पूड़ी, नुकती, सेव के साथ साथ दोनों में रायतां परोसा जा रहा है, पंगत जमी है, मनुहार हो रही है, एक एक के सामने जाकर मना करते पत्तल में लड्डू डाल दिया जाता है। एक ओर बड़ा–सा पटिया बिछाकर कुछ लोग पान के पत्तों पर चूना कत्था लगा रहे हैं, सुपारी काटकर डाल रहे हैं, पान के बीड़े बना रहे हैं। मंडप की पीछे महिलाएं बड़े उत्साह से मांगलिक गीत गा रही :

"राजा तुम्हारी गोरी छे लाड़ी बहू
झारी भरी लाया, थाल परोस्या, बीड़या संजोया हो,
महाराजा। रंग को बघावो, सरस बधावो"

यह रिसेप्शन है जिसमें डिनर हो रहा है।

रात हो चली, गांव छूट गये, जाने कहां खो गई पगडंडियाँ, संकरी सड़कें, अमराइयां, गुलमोहर, कटार और बटुआ संभालते दूल्हे राजा, अपने घूंघट की संबारती वधू री, मनुहार के साथ लड्डू खाते मेहमान, हरे मंडप और गोरी लाड़ी बहू के गीत।

गाड़ी शहर में आ गई। बेहद शोर शराबा। गाड़ी खड़ी है, ट्यूबलाइटें हाथ में थामें छोटे–छोटे बच्चे, गरीब मजूरनें, बूढ़े मजदूर।

उमस भरी रात में लकदक सूट पहिने, टाई बांधे बराती, घोड़े पर दूल्हा फर की टोपी पहिने, टाई और सूट में। घोड़े के आगे नाचते बीयर और रम पिये हुए धुत्त लड़के जिनमें कुछ प्रौढ़ भी शामिल हो गए हैं। बारात बड़ी धीमी गति से आगे बढ़ रही है। बारात में कुछ लोग शौकिया पैदल चल रहे हैं।

कुछ पुराने बुजुर्ग सहमे सहमे से शामिल हैं। बाकी बाराती ए.सी. कारों में हैं। एक छोटे से बच्चे के हाथ से ट्यूबलाइट गिर पड़ती है। बीयर की बोतल थामे एक बाराती उस बच्चे को कसकर थप्पड़ लगाता है। साले अपसगुन कर गिया।

यह एक आभिजात्य और शरीफ किस्म के लोगों की बारात है। घर पर ढेर सारे आमंत्रण कार्ड मेरी राह देख रहे हैं। तरह तरह की आफसेट प्रिंटिंग वाले, स्क्रीन प्रिंटिंग वाले, महँगे कार्ड जिन पर गणेशजी इतनी शान से विराजे हैं कि खुद गणेशजी को अपने भाग्य से ईर्ष्या हो। ज़्यादातर कार्ड अंग्रेज़ी में हैं। भ्रम होता है कि–

हमारे पहिले लिपिकार गणेश ने कहीं इस लिपि की तो ईजाद नहीं की। एक सज्जन मेरे इंतज़ार में बैठे हैं, वे बारात में चलने का आग्रह कर रहे हैं। चलिए साहब टाटा सियरा है, पूरी ए.सी. गाड़ी आपको गर्मी का अहसास तक नहीं होगा, फिर शैम्पेन है, बम्बई से बढ़िया बीयर के क्रेट बुलवा लिए हैं, गाड़ी में ही रहेंगे, आप पिछली बार भी नहीं चले इस बार ज़रूर चलिए।

किसी तरह उन्हें वापिस भेजता हूँ। सपरिवार कम से कम पांच जगह रिसेप्शन में जाना है। तैयार होता हूँ। हर जगह बड़े–बड़े गेट, गेट पर खड़े आमंत्रणवर्ता, पहुंचते ही रोबोट की तरह दोनों हाथ जोड़ लेते हैं, फिर लाल कालीन से पटा एक गलियारा, उसे पार करने पर एक मैदान जिसमें तरह–तरह के स्टाल सजे हैं। मंच पर वर–वधू आसीन हैं, लिफाफा थमाने वालों की लाइन लगी है, वीडियो कैमरा चल रहा है, फ्लैशगन चमक रही हैं कोई अतिविशिष्ट व्यक्ति आता है तो उसे साथ लेकर आमंत्रणकर्ता आते हैं। "उसे मंच तक ले जाते हैं और फोटो खिंचवाकर वापिस गेट पर पहुंच जाते हैं। मैदान के बीचों–बीच ढेर सारी प्लेटें हैं, तरह तरह के सलाद हैं, लोग प्लेट उठाते हैं, सलाद लेते हैं फिर स्टाल की तरह बढ़ जाते हैं। स्टीरियो पर मँगल गान हो रहा है, ला पिला दे साक़िया, पैमाना पैमाने के बाद।

बुफे सिस्टम या खड़े–खाने में बड़ा आराम है, कोई मान मनव्वल नहीं, कोई देखने पूछने वाला नहीं। खाओ तो खाओ या घूम घामकर वापिस लौट आओ और गेट पर कहो। भई, बढ़िया खाना था, मज़ा आ गया।

ऐसे जाने कितने रिसेप्शन में मैं हाजिरी लगा आया लेकिन भोजन हमेशा घर पर ही किया। ऐसे स्वागत समारोहों में न मन भरा न पेट, भूखे गये और भूखे लौटे। विवाह एक मांगलिक पर्व है। जनम–जनम के लिए आजीवन बँध जाने को बेला जिसके हम साक्षी होते हैं। यह पर्व जाने कितनी परम्पराओं और रीतियों से भरपूर है। नव युगल के दाम्पत्य सूत्र में बँध जाने के इस अवसर पर समाज को साक्षी बनाने के पीछे यही भाव है कि समाज रूपी कुटुम्ब के ज़्यादा से ज़्यादा लोग जान लें कि उनका कुटुम्ब और बढ़ा, समृद्ध हुआ एक नई कोंपल और फूटी, समाज के सागर में एक और धारा समा गई। इसलिए तरह तरह की रीतियों से बार बार कभी लग्न के अवसर पर, कभी तिलक के अवसर पर, कभी बारात के अवसर पर सभी को साक्षी बनाकर इस भाव को पुष्ट किया जाता है।

यह भाव अभी पगडंडियों में, अमराइयों में, बैलगाड़ियों से जाती लौटती बारातों में हरे मंडप के नीचे मनुहार के नुकती के लड्डू खाते बरातियों, घरातियों में जीवित है। विवाह से जुड़ी इन मांगलिक रीतियों के साथ जब कभी यह अभिजात्य जुड़ गया जिसका उद्देश्य दृष्टि कम और दिखाना ज़्यादा है तो फिर यह भाव रक्षित नहीं होता। भाव, औपचारिकता में बदल जाता है। आज इन्हीं औपचारिकताओं का चलन ज़्यादा है।

यह ज़रूरी कतई नहीं कि रिसेप्शन न हो, स्वागत समारोह न हो, लेकिन वर वंधू को असीसने की जो मांगलिक परम्परा है और इसमें जो निहित भाव है उस भाव की अस्मिता बची

रहनी चाहिए। उसकी रक्षा होनी चाहिए, थोपी चकाचौंध और वैभव के फूहड़ प्रदर्शन के प्रदूषण में इस भाव के प्राण न घंटे इस चेतना का जागरण ज़रूरी है और यह तभी हो पाएगा जब हम प्रदर्शन के मोह छोड़ेंगे।

दृश्य बदलना चाहिए। इन दृश्यों को बदलने के लिए दृष्टि बदलनी होगी। बिना दृष्टि के बदले ये दृश्य नहीं बदलेंगे।

ये दृश्य बदल जाएंगे यदि सभी का भाव सागर–भाव हो जाएगा, जो राह देखेगा एक निर्मल धारा के उसमे समाने की, यदि हम सब का भाव उस वृक्ष की तरह हुआ जिसके तने पर एक नई कोंपल फूटी और वृक्ष की तमाम टहनियों पर झूलती परियों इस कोंपल के सिर पर हाथ रख इसे असीस भर दिया तो फिर ये औपचारिक और यांत्रिक से स्वागत भोज, भोज नहीं रहेंगे, स्वागत भाव बन जाएंगे।

गुलमोहर, बोगनबेलिया के फूल, और आम्र वृक्ष पर लटकतीं स्वागतातुर हरी कैरियां इसी भाव की तो साक्षी हैं।

उत्सव : रचें कुछ थिरकनें

उत्सव के दिन आ गए। हमारे ज़्यादातर उत्सव आराधना के बहाने मनते हैं। गणेश हों, गोरी हों, शिव हों, काली हों, राम हों या कृष्ण, मोहम्मद हों या ईसा इन सबको स्मरण करने की जब बेला आती है तो इस मांगलिक बेला में छलकने वाले उत्साह को उत्सव कह दिया करते हैं। जाने कब से ये उत्सव मन रहे हैं, उत्साह छलक रहा है, थिरकनें रची जा रही हैं, दीपशिखाओं का जागरण हो रहा है, एक गहरे आस्थाभाव के सागर में उत्ताल तरंगों का नृत्य, मन की कली का अचानक प्रस्फुटन और असंख्य पांखुरियों का खिल जाना, पराग के कणों का हवा की रग रग में बिखर जाना। गंध का गरबे की गति में समा जाना।

जगह जगह होते. डांडिया रास गर्ति में गंध के समा जाने के प्रतीक हैं। यही सार्थक उत्सव है जब गति में गंध समा जाए। निर्गंध गति तो जड़ होती हैं अपने आप में, पांव चलें और इन पगध्वनियों की आहट से संगीत गूंजे, इस गुंजन में बसी गंध से मन सरोबार हो उठे तो उत्सव बनता है।

उत्सव आराधना के बहाने आशा के संसार का नाम है, वह आस्था के बहाने अपने में समाए अमृत में आकंठ डूबकर स्मृतियों को अमर करने का नाम है, वह नृत्य के बहाने नमन करने और थिरकने के बहाने किसी संकल्प को याद कर लेने का नाम है। सच्चे उत्सव की यही आत्मा और यंही अस्मिता है।

उत्सव यों धार्मिक होते हैं लेकिन धर्म के नाम पर फैली संकीर्णता से उनके सरोकार नहीं होते। जब ये सरोकार जुड़ जायें तो फिर ये उत्सव, उत्सव नहीं रहते। ये फिर उन्माद होते है। सार्थक उत्सव, उन्माद से कभी नहीं जन्मता, उसके प्राण तो उत्साह में बसते हैं। इसलिए उत्सव फिर वह चाहे किसी धर्म का हो, समाज का हो, जाति का हो सार्थक तभी है जब वह इन सबका होते हुए भी इन सबका न हो, इस उत्सव में भागीदारी हो सभी की, प्रत्येक वर्ग की, जाति की, धर्म की। उत्सव में भी यदि छुआछूत बरती गई तो फिर वह उत्सव नहीं रहता, आडम्बर होता है।

इसलिए उत्सव के इन दिनों में जब उल्लास की नदी में उफान आए; उत्साह के सागर में ज्वार उठें, मन के आकाश में उमंगों के इंद्रधनुष उगें तो उनका अभिनन्दन बिना किसी भेद के होना चाहिए। उत्सव भाव का पर्याय है, भेद का नहीं।

हमारा देश प्रधानताओं का देश है, कृषि प्रधान, संस्कृति प्रधान, साहित्य प्रधान, संगीत प्रधान, धर्म प्रधान, जातिप्रधान और न जाने कितने प्राधान्यों का देश लेकिन वह अर्थ की दृष्टि से गौण हो गया। अर्थ शब्द में नहीं होता, उसकी व्यंजना में होता है। फूल की तरह, फूल की व्यंजना उसकी सुगंध है जो दीखती नहीं, फैलती है और समूचे परिवेश को मादक उत्साह से भर देती हैं। आज हमारे यहाँ शब्द बहुतेरे हैं, कृषि है, संस्कृत है, धर्म, साहित्य, संगीत, जाति और उत्सव हैं, लेकिन ये शब्द गंधहीन फूल की तरह होकर रह गए। इनकी सुवास खो गई,

व्यंजना खा गई, अर्थ खो गया, ये शब्द तरह–तरह के रंगों वाले फूल की तरह खिले हैं जिनका सौन्दर्य भ्रमित करता है। इसलिए आज के उत्सव भी ऐसे फूलों की तरह हो गए जिनकी पांखुरियाँ झर जाती हैं और उनकी स्मृति विलीन हो जाती है, वह फिर तभी आती है जब अगले उत्सव को मनाने की बेला निकट आ जाए, ऐसे निर्गंध फूलों की तरह जो खिलकर झर जाते हैं और फिर अपना मौसम आने पर खिलने को तत्पर हो जाते हैं। गंध हो तो वह वर्ष भर बनी रहे, मादक उत्साह हर दिन भरा रहे मन में, अनुभव ही न हो कि उत्सव आकर चला गया ! मगर आज के उत्सव गंध हीन पुष्प हो गए।

बहुत ज़रूरी है उत्सवों की व्यंजना में लौटना। लौटना इसलिए कि पहिले जो उत्सव मनते थे वे अर्थ से भरपूर हुआ करते थे, शनैः शनैः उनके अर्थ खोते चले गए। फूल की गंध विलीन होती चली गई, शब्द के परिधान भर दीखते रहे, उनके अंदर समाया सौरभ और संगीत खोता चला गया। आज फूल तो हैं लेकिन सुवास नहीं है। वह चली गई रूठकर, उसे लौटना होगा। इस सुगंध का लौटना ही उत्सव की अस्मिता का लौटना होगा। उत्सव की इस व्यंजना में हम लौट आएँ इसके लिए ग्रह भी ज़रूरी है कि हम खो चुकी गंध को लौटा लाने का संकल्प लें क्योंकि उत्सवों में समाई गंध को बिदा भी हमीं ने किया है। गंध की इस बिदाई को हमें स्वीकारना होगा और गंध को लौटा लाने का संकल्प अंतिम रूप से लेना होगा।

इस गंध को हम लौटा नहीं पाते उसका बड़ा कारण यह औपचारिकता है जो उत्सव को अनौपचारिक नहीं होने देती, वह उत्सव को जगमग में, तरह–तरह के परिधानों में लपेट कर समेट देती है। वह उसे विस्तारित नहीं होने देती, उत्सव का वैराट्य निस्सीम होता है, उसे समेटना नहीं चाहिए, उसे तो जितना वह फैल सके, फैलने देना चाहिए क्योंकि फैलने से उसकी परिधि बढ़ेगी, उसके घेरे में वह सब कुछ आएगा जो छूट जाता है या छोड़ दिया जाता है। उत्सव तो निभ जाता क्योंकि उसका धर्म ही निभना है, यदि वह निभे नहीं तो वह रस्म हो जाएगा, बाध्यता बन जाएगा, विवशता बन जाएगा जिसे निभाना हमारी ज़िम्मेदारी होगी। ऐसी ज़िम्मेदारी जो हम बेमन से निभाएँगे। आज उत्सव रस्म होते जा रहे हैं और रस्म औपचारिकता का दूसरा नाम है। इसलिए इस रस्म से मुक्ति ज़रूरी है, उत्सव तभी मनेगा जब मुक्त होंगे। बंधन, फिर वे चाहे जैसे हों, उत्सव की अस्मिता को बांधते हैं, बंधनजयी होना ही मुक्त होना है, उत्सव को मना लेना है, बंधनजयी होने का भाव ही आत्मा है उत्सव की।

एक समारोह होता है। वह बहुत भिन्न है उत्सव से। कई समारोह को उत्सव कहते हैं। सब मिले और इस सम्मिलन ने जो आकार ग्रहण किया वह सम्मेलन हो गया, समारोह हो गया लेकिन ऐसे समारोह या सम्मेलन से उत्सव के रिश्ते नहीं होते क्योंकि समारोह में मिलन भले हो, संविलयन नहीं होता, उसमें घुलने और घुलकर मिल जाने का वह भाव नहीं होता जो मुक्ति का अनुभव कराए, किसी संकल्प को लेने की प्रेरणा दे, किसी गंध को बसाए अपने आप में और फिर वह गंध फैलती रहें, बिखरती रहे, और समेटती रहे सबको अपनी परिधि में।

उत्सव का अर्थ मिलना नहीं घुलना है। घुल जाने से निजता से उपजे दंभ विसर्जित होते हैं। एक नदी है उत्सव जो बहती है अविराम और अपने जल में सबका निजत्व घोल

लेती है, सभी इस जल में डूबकर अपने–अपने अहं विसर्जित कर लिया करते हैं, उनका कोई अस्तित्व ही शेष नहीं रहता। यह नदी बहती चली जाती है और उत्सव अपनी पूरी उमंग में मनता चला जाता है। ऐसे उत्सव का अंत कभी नहीं होता क्योंकि नदी के बहाव की निरन्तरता बरकरार रहती है। रस्म एक कलश के मुख से फूटी हुई जलधारा है जिस कलश का जल समाप्त होते ही, रुक जाना है, समारोह एक कच्चा बांध है मिट्टी का जिसमें पानी को कुछ देर ठहरना है फिर अपने अपने रास्ते खोज कर उनमें विलीन हो जाना है, मगर उत्सव तो नर्मदा है जिसे फूट पड़ना है अमरकंटक के गौमुख से और फिर कहीं नहीं बंधना है, अपने पथ में आने वाले सारे समूहों के निजत्व को घोलकर सागर में समा जाना है। उसके प्रवाह की निरन्तरता को कभी खत्म नहीं होना, उसे भेड़ाघाट में किलकना है, नेमावर में गोल गोल घूमकर थिरकना है, औंकारेश्वर में बल खाते हुए अपनी गति के घुमाव पर इतराना है और फिर महेश्वर में उद्दाम वेग के साथ सहस्त्रधारा के रूप में कहीं बिखर जाना है तो कहीं विस्तार के लिए निनाद करते सतत् प्रवाहमान होते रहना है। उत्सव उल्लासमय गति है, निर्भय गति जिसे न थमने का भय हैं और न जड़ हो जाने का।

यही उल्लासमय गति उत्सव को मनोहारी बनाती है, जीवंत रखती है और यह गति जन्मती है विश्वास से, उस विश्वास से जो जीने का बल देता है, मनुष्य के मनुष्य होने को परिभाषित करता है। प्रसन्न तो पशु भी होते हैं लेकिन वे उत्सव नहीं मना पाते क्योंकि सृष्टि ने मानुष भाव सिर्फ मनुष्य को दिया है, वह मनुष्य भाव जो पहिले जोड़ता है एक दूसरे को और जोड़ लेने के बाद एक को दूसरे में ऐसा घुला–मिला देता है कि जुड़ाव के सारे निशान मिट जाते हैं।

सच्चे उत्सव मिलकर बिखर जाने के प्रतीक नहीं बल्कि मिलकर एक दूसरे में विलय हो जाने, घुल–मिल जाने के पर्याय हैं। वे निर्बंध नहीं बल्कि गंध से भरपूर वे फूल हैं जिनकी महक सबको सुलभ होतीं है, वे विस्तार नहीं व्यंजना हैं, वे न रस्म की जलधारा हैं, न मिट्टी के कच्चे बांधों में ठहरे जल–बिन्दु, वे तो प्रवाहमान नर्मदा हैं, सतत् अविराम, अविकल और कलकल बहती उल्लसित रेवा के तरह–तरह की भंगिमाओं वाले प्रवाह हैं।

उत्सव के दिन आए हैं चलें नर्मदा के तटों पर और अपना सारा
निजत्व खोकर सच्चा उत्सव मना लें।
कुछ थिरकनें रचें यही रचना तो वह शैली होगी
जिसे हम उत्सव कहते हैं।

जागिए रघुराज कुंवर

विचार यही आता है कि तुम विस्मृत क्यों नहीं हुए आज तक ? क्यों हो इतने पैठे हुए; आस्था में कि रोज़ असंख्य प्रणाम तुम्हें अर्पित होते हैं ? पीढ़ियाँ समय की सरयू में विसर्जित होती जाती हैं लेकिन तुम प्रतिष्ठित बने रहते हो हरेक के मन मानस की अयोध्या में।

उत्तर कहाँ से मिलें? आस्था के या प्रणामों के जवाब तर्कों में नहीं मिलेंगें। तर्क से राम को पाने की कोशिश होती तो जाने कितने तरह के दर्शन तो रच दिए जाते पर रामायण नहीं रच पाती। रामायण तो विश्वास की स्याही से लिखी वह पोथी है जिसके पोर पोर से तुम्हारा वह रूप झांकता है जो भुलाने के लिए बना ही नहीं। तुलसी तुम्हारे रूप के ऐसे चितेरे थे जिनकी तूलिका के रंगों में अमरता समाई थी। ये रंग पदार्थ से नहीं भाव से बने थे, वे भाव जो इस सृष्टि के उदय के साथ बने और जिनका अंत भी सृष्टि के अंत के साथ होगा।

तुलसी ने अपने इन्हीं भाव रंगों को शब्द देकर तुम्हारा रूप बांध दिया। ऐसा अप्रतिम रूप कि जानकी कह उठीं,

> "राम को रूप निहारति जानकी, कंकन के नग की परछाई
> बातें सब सुधि भूल गई कर टेकि रही परू टारत नाहीं।

ऐसे रूप को भुलाया नहीं जा सकता। शब्द भूले जा सकते हैं लेकिन भाव तो अजर, अमर होते हैं। इसलिए राम हमारे विश्वास की, आस्था की उस सघनता के पर्याय बन गए जिसे तर्क के झोंके कभी तिरोहित नहीं कर सकते। उन्हें नाहक प्रतीक पुरूष बना दिया गया। वे तो विश्वास व्यक्तित्व हैं। उन्हें प्रतीक बनाकर बहुत सीमित कर दिया गया जिसका नतीजा हम सभी आज भुगत रहे हैं। वे विश्वास व्यक्तित्व ही रहें, मर्यादा पुरुषोत्तम ही रहें तो उनका स्वरूप ज़्यादा व्यापक होगा। तब वे किसी एक वर्ग की, एक समाज की या एक देश की धरोहर नहीं रहेंगे। वे फिर सारे विश्व के रहेंगे। उनकी मर्यादा संसार की मर्यादा रहेगी और उनका पौरूष सारे जगत की शक्ति होगा।

राम जन्मे होंगे अयोध्या में, बना होगा उनकी स्मृति में मंदिर लेकिन ऐसा नहीं कि वे सिर्फ वहीं के स्थायी आस्था पुरूष हो गए। उनके प्रतीक रूप के प्रति इतना आग्रह करने का यह परिणाम हुआ कि राम का रूप बड़े सीमित दायरों में सिमट गया। राम से बड़ा तो कोई सर्जक नहीं, उनसे बड़ा कोई धर्म नहीं, जाति नहीं, उनके स्वरूप की कोई सीमा नहीं तब उनकी याद किसी विध्वंस, क्रूरता और संकीर्णता के बीच कैसे संजोई जा सकती है?

प्रतीक कभी प्रेम से बड़े नहीं होते और न ही वे निर्मल आस्था के हिमालय को लांघ सकते हैं इसलिए राम सिर्फ राम रहें हमारी आस्था के परमधाम रहें इसलिए ज़रूरी है कि हर मन सरयू का तट हो और मानस अयोध्या।

राम को परम्परागत अर्थों में पूज देने भर से या उनकी याद कर लेने भर से राम जन्म के उस पल की सार्थकता पूरी नहीं होती जिस पल वे माँ कौशल्या की गोद से जन्मे थे।

जिस घड़ी राम जन्मे वह तो बड़ा अलौकिक क्षण था। वह क्षण समय की माला में गूंथा ही इसलिए गया कि वह इस विश्व की क्षणभंगुरता से समूची मानवता को परिचित कराए, प्रेम को विस्तार दे, भ्रातत्व को सघन बनाए और मानवीय मूल्यों को इतनी ऊँची प्रतिष्ठा दे कि मानव और ईश्वर में भेद न रहे लेकिन यह क्षण आज इन सब चीज़ों के खिलाफ होने वाली घटनाओं का साक्षी है। यह विरोधाभास इसलिए है कि हम राम को एक स्थिर काल और घटनाओं का ऐसा भगवान भर मान बैठे जिसकी हमें सिर्फ आराधना भर करना है।

वास्तव में यही हमारी ग़लती है। राम तो बदलने वाले हर समय के प्रसंग में देखे जाने वाले सहज विश्वास व्यक्तित्व हैं। उनका समूचा कृतित्व इतना परिपूर्ण है अपने आप में कि चाहे कोई काल हो वे प्रसांगिक बने रहते हैं। हमारी दृष्टि की संकीर्णता उनका रूप संकरा कर देती है वरना उनके कृतित्व का वैराट्य तो सीमाहीन है।

बड़ा अन्याय है यह राम के साथ कि जिसकी ठोकर ने पाषाण को मानवी बनाया हमने उसे ही पाषाण बना दिया।

राम आराध्य हैं लेकिन इसलिए नहीं कि वे भगवान के रूप में सदियों से पूजे जाते रहे हैं, उन पर आस्था के फूल इसलिए नहीं चढ़ते क्योंकि वे हमारे लिए अधर्म के हन्ता व्यक्तित्व के रूप में प्रतिष्ठित हैं बल्कि वे आराध्य इसलिए हैं क्योंकि उन्होंने मानवीय मर्यादा के उन शिखरों को छू लिया जो केवल ईश्वर के लिए ही संभव माने जाते थे। उन्होंने पौरूष की उस गरिमा से हमें परिचित कराया जिसके बल पर यह सृष्टि रची गई। वे इसलिए पूजे जाते हैं क्योंकि उन्होंने देवत्व को मानवीय रूप में अपने सहज कर्म से एक मानव के रूप में साकार कर दिखाया।

सतत कर्म और संघर्ष से क्या पाया जा सकता है यह उन्होंने एक मानव के रूप में कर दिखाया।

राम की आराधना करते समय आज के संदर्भों में दृष्टिकोण का यह परिवर्तन बहुत ज़रूरी है। बिना दृष्टि बदले राम की अर्चना अधूरी ही रहेगी। वे त्रेता के भगवान ही बने रहेंगे, निष्ठुर अयोध्या के मूक बंदी और संकीर्ण विचारों की दीवारों के बीच विवश मालाएँ पहिने ईश्वर।

हमारी संकीर्णता को कोई अधिकार नहीं कि वह राम की विराटता को संकुचित करे। राम का चरित्र एक व्यापक बोध देता है। उनके जीवन काल की प्रत्येक घटना एक आदर्श प्रस्तुत करती है। उनका मनोहारी रूप विभोर कर देता है हमारे मन को मग़र सिर्फ उन्हें इसी स्वरूप में याद करते करते कर्महीन बने बैठे रहना राम का सच्चा स्मरण नहीं है।

राम का सच्चा स्मरण तो उस कर्म में है जिसके कारण वे राम हैं। उनकी सच्ची स्मृति तो उन रिश्तों में समाई है जो भाई–भाई के बीच हैं; पिता और पुत्र के बीच हैं, पति और पत्नी के बीच हैं, लोक और लोक सेवक के बीच हैं और अपने खुद के विरोध में खड़े सबसे बड़े

शत्रु के बीच हैं। इन्हीं रिश्तों की मर्यादा में राम बंधे हैं और इसी मर्यादा ने उन्हें पुरूषोत्तम बनाया।

रामायण कंठस्थ हो जाए या राम की प्रशंसा में होने वाले प्रवचनों को सुनते सुनते हम अभिभूत हो उठें इससे राम नहीं मिल पाऐंगे। राम खोजने से नहीं मिलेगें कभी, वे तो अपने आप में मिल जाएँगे और तब मिल जाएंगे जब रामायण के रिश्ते अमली जामा पहिनने लगेंगे हमारे आज के समाज में। जो रिश्ते राम ने बनाए उन्हीं रिश्तों को सहेज लेना, निभा लेना रामनवमी बना लेना है।

राम तो कर्म पुरूष थे। ऐसे कर्म पुरूष जिन्होंने अपनी कर्मठता से माँ जानकी को जहाँ एक ओर वर लिया था वहीं उसी कर्मण्यता के बल पर उसी जानकी को पूरी पवित्रता के साथ दानवी बंधनों से मुक्त भी करा लिया था। उनकी कर्मठता ने रामराज की रचना की, ऐसे रामराज की जिसमें कोई समानता और असमानता के भेद नहीं रहे। असमानता समाज की पौरूषहीनता की देन होती है। राम की यही विशेषता थी कि उन्होंने अकेले ही अपने पौरूष के बल पर असमानता को समाज से समाप्त कर दिया। अपने कर्म के बल पर अपने नाम को इतना पवित्र और शक्तिशाली बना लिया कि पंगुओं ने पहाड़ पार कर लिए और जो मूक थे वे वाचाल हो उठे।

उनका नाम शक्ति और ऊर्जा का पर्याय बन गया,

आज की विडम्बना यह है कि हम जीते कर्मयुग में हैं लेकिन कर्मपुरूषों की याद को अपनी अकर्मण्यता से जोड़ लेते हैं। उन्हें प्रासंगिक बना ही नहीं पाते।

उन्हें प्रासंगिक बना लें तो प्रसंग सार्थक हो जाऐं, समय सार्थक हो जाए यह जीना सफल हो जाए। हम जब अपना आत्मविश्वास खो चुके तो इस विश्वास पुरुष की स्मृति को पूरे विश्वास और आस्था के साथ संजो कैसे पाऐंगे?

अर्चना कर फूल चढ़ा देना किसी कर्म पुरूष की स्मृति को संजो लेना नहीं होता, उसे संजो लेने की औपचारिकता भर होता है। ऐसी औपचारिकताओं से कर्म के कोई अध्याय नहीं रचे जा सकते अब इन औपचारिकताओं को विराम दें। आगे आने वाली पीढ़ी कर्ममय राम की पीढ़ी हो।

ये राम जन्म चुके। छोटे छोटे अनगिनत राम भोर में निश्छल सोए हैं। इनकी कर्म यात्रा अभी आरंभ होना है। आऐं इन्हें हौले–हौले जगाऐं और कर्मपथ पर चलने के लिए प्रेरित करें। पंछी तो जाग चुके, अब तो हमें सिर्फ अपने इन रामों को जगाना भर है, आइए इन्हें इस प्रभाती के साथ जगाएँ,

"जागिए रघुराज कुंवर,
पंछी बन बोले
जागिए रघुराज कुंवर।

अंधेरे के आलोक पुत्र

अंधेरा बेहद घना है, कुछ सूझता नहीं। आसपास जुगनू भी नहीं चमकते। उजास की आस में आंखें बस भटकती रहती हैं, उन्हें ठौर नहीं मिलता। यह मेघहीन अंधकार है। मेघों से आच्छादित अंधेरा हो तो बिजली की कौंध की आस बनी रहती है लेकिन यह तो सूखा अंधेरा हैं, यह रात्रि बड़ी भयावह है।

लेकिन वह भादों की रात तो कहीं इससे ज़्यादा अंधेरी थी। अंधेरा ही अंधेरा था चारों ओर मग़र वह रात भरपूर थी मेघों की हुंकार से। वे अनवरत बरस रहे थे, बिजली की कौंध से बन्दीगृह की दीवारें चमक जाया करती थीं, यमुना के तटबंध टूट गए थे और लहरों ने आकाश की ऊँचाई को चुनौती दे रखी थी। यह वही रात थी जब कृष्ण जन्मे थे। अंधेरे के आलोक पुत्र कृष्ण।

आज के सूखे अंधेरे और उस मेघाच्छादित अंधेरे में यही अंतर है कि मेघ की चुनौती को स्वीकार न करने की सामर्थ्य के कारण आज का अंधेरा सिर्फ अंधेरा हैं जबकि जन्माष्टमी की उस रात के अंधेरे को मेघों की चुनौती स्वीकार करने के कारण कृष्ण जैसे उजासपुरूष को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त है।

बिना चुनौतियों को स्वीकारे सिर्फ बांझ ही रहा जा सकता है।

कृष्ण का जन्म वास्तव में सामर्थ्य और पौरूष की जिजीविषा का जन्म है। कृष्ण का जन्म उस उजाले का जन्म हैं जिसे हम 'श्याम' कहकर पूजते हैं। कृष्ण जन्म सिर्फ एक ऐतिहासिक घटना का घट जाना नहीं बल्कि घटाओं को चीरकर एक इतिहास पुरुष का घटना पुरुष से, भावपुरूष और फिर इस भावपुरूष से एक पौरूषवान ईश्वर की महाआराधना के रूप में प्रतिष्ठित हो जाना हैं। कृष्ण का जन्म एक यात्रा का जन्म है जिसने मानव की नियति को निर्धारित कर दिया। ब्रज का बचपन, मथुरा का कैशोर्य, द्वारिका का प्रशासन और अन्त में प्रभास में अनन्त में विलीन हो जाना, मानव की जीवन यात्रा को सुनिश्चित करने वाले पड़ाव हैं और कृष्ण मनुष्य की इसी नियति के आदर्श पर्याय हैं।

कृष्ण की सबसे बड़ी विशेषता हैं उनका ऐतिहासिक होना। वे इतिहास पुरुष हैं। इस देश के इतिहास की गली–गली में कृष्ण हैं और यह समूचा देश मानों एक वृन्दावन है जिसकी गलियों के सारे द्वार अंततः यमुना के उस तट पर मिल जाते हैं जो एक सतत प्रवाह का साक्षी भी हैं और सहभागी भी, कृष्ण प्रवाह के प्रणेता हैं। कृष्ण की यमुना श्यामल हैं, उनकी राधा सांवली हैं और वे खुद भी श्याम हैं। क्या बात है कि कृष्ण ने इतना मोह पाला सांवलेपन से। शायद इसलिए कि जब तक श्यामलता की प्रतीति न हो, उससे साक्षात् न हो तब तक उजलेपन की पहिचान नहीं बनती। कृष्ण से जुड़े सारे प्रतीक श्यामल हैं लेकिन ये सारे प्रतीक ऐसी धवलता के भी अध्याय हैं जो सिर्फ कृष्ण ने रचे। राधा की अनवरत प्रवाहित

होती प्रीति की उज्जवल धारा, घने श्यामल कुंजों में रचाया जाता प्रकाशवान रास, कालिन्दी के श्यामल जल में विराजी उज्ज्वल पवित्रता और भादों की वह घनेरी अंधियारी रात जिसमें वे स्वयं आलोक पुत्र के रूप में जन्म गए। यदि वे श्यामलता को नहीं अपनाते तो उजलेपन की कोई परिभाषा ही नहीं होती। कृष्ण ने अंधेरे की चुनौती स्वीकार की और अंततः अंधेरे को जता दिया कि जय तो प्रकाश की ही होना है। वे अंधेरे से अंधेरे की शैली में जूझे और उसे उसी की शैली में पराजित कर दिया। जाने कितनी विशेषताएँ हैं उनके व्यक्तित्व की भी, चरित्र की भी। वे द्वंद्वात्मक भी हैं, निर्द्वंद्व भी, मोह के प्रतिरूप भी हैं और विरक्ति के साकार स्वरूप भी, उनसे, बड़ा अनुरागी नहीं, उनसे बड़ा मित्र नहीं, उनसे बड़ा मानव नहीं, उनसे बड़ा ईश्वर नहीं। कृष्ण पर न्यौछावर होने वाली आस्था उन्हें सिर्फ प्रणाम नहीं करती वह तो उनमें समा जाना चाहती है और उन्हें अपने में समो लेना चाहती है।

कृष्ण के प्रति आस्था उमड़ती है, लेकिन उनके प्रति एक वत्सल अनुराग भी उमड़ता हैं। आस्था के ये रूप, वास्तव में भाव हैं, इसलिए श्रीकृष्ण वास्तव में भावपुरूष हैं। जब वे कंस वध करते हैं, कालिया दमन करते हैं, पूतनावध करते हैं तब उनके प्रति एक प्रणाममय आस्था जन्मती है, जब वे कुरूक्षेत्र में योगेश्वर रूप में अर्जुन को गीता सुनाते अपना वास्तविक रूप दिखाते हैं तब श्रद्धा जन्मती है लेकिन जब वे यशोदानन्दन होते हैं, यमुना के तीर पर, निकुंजों में लीला रचाते घनश्याम होते हैं, नटनागर होते हैं तब उनके प्रति एक सहज अनुराग भाव जन्मता हैं। कृष्ण का यह बहुआयामी व्यक्तित्व हमारी संस्कृति के साथ–साथ हमारे मर्यादित संस्कारों को भी रचता है।

इस मनोहारी व्यक्तित्व ने इस देश को एक कुंज संस्कृति दी जो शुष्क नहीं है, हरी–भरी, अनुरागमय, प्रीतिमय और रागात्मक एक्य से परिपूर्ण है। इस संस्कृति की अपनी विविधता है और इस विविधता में भी अद्‌भुत एकरूपता हैं, साम्य है। कृष्ण का चरित्र कहीं भी विखंडित नहीं है वह आयु के साथ अपने कृतित्व का क्षेत्रफल बढ़ाता है, उसकी प्रकृति को बदल देता हैं और फिर भी तादत्म्य बनाए रखता हैं। उनका चरित्र सारे विरोधाभासों के विरूद्ध एक जीवंत निषेध के रूप में खड़ा है। वह पारदर्शिता का, पौरूष का, और संपूर्णता में मनुष्यता के सच्चे प्रतिमान का पर्याय है।

कृष्ण के साथ ऐतिहासिकता जुड़ी हैं। मथुरा के शिल्प और द्वारिका के उत्खनन से निकले पुरातात्विक प्रमाण उनके अस्तित्व की पुष्टि करते हैं। उनके ऐतिहासिक अस्तित्व की कड़ियाँ निरन्तर मिलती हैं और भागवत के पहिले का उनका स्वरूप कहीं भी लीलामय नहीं है। वे एक योद्धा हैं, अपने समय के महानायक और महायोगी हैं लेकिन दसवीं सदी के बाद वे अकेले कृष्ण नहीं रहते उनके साथ गीतगोविन्द के सृजन के बाद राधा जुड़ जाती हैं जिनकी कोई ऐतिहासिकता नहीं रही और वे कुछ इस तरह जुड़ जाती हैं, कृष्ण से कि उनका चरित्र बड़ा रसमय हो उठता हैं। राधा आगे हो जाती हैं और माधव पीछे, राधा के साथ जुड़ने के बाद जो मनोरम छवि कृष्ण की बाद की सदियों से बनती चली गई वही हमारे मन मानस में स्थिर रह गई 'इस छवि को रसखान, रसलीन, ताज, सूर, अष्टछाप के कवियों से लेकर केशव

और बिहारी ने कुछ इस तन्मयता के साथ बांधा कि कोई पीढ़ी फिर बीती शताब्दियों में स्थापित कृष्ण छवि की ओर मुड़कर नहीं देख पाई। यह रसभरी और पौरूषभरी छवि हमारी धरोहर बनी रही और यही छवि हमारे लिए आज भी पूजनीय हैं। कृष्ण में राधा का और राधा का कृष्ण में विलय कुछ इस तरह हुआ कि फिर इस विलय का विश्लेषण नहीं हो पाया, बस सभी विभोर होते चले गए फिर वे चाहे चैतन्य हों या पुष्टिमार्गी संत।

कृष्ण को जिस रूप में आज हम देखते हैं वह दसवीं सदी के बाद का रूप है। दसवीं सदी से पहिले का रूप तो इतिहास के गलियारों में खो गया, कृष्ण का यह रसमय रूप जो लोकमानस में पूरे स्थायित्व के साथ स्थापित हुआ उसका प्रमुख कारण उनके चरित्र के साथ लोकभाव का जुड़ा होना है। कृष्ण और राम दोनों ही लोकतत्व के प्रतिनिधि भावपुरूष हैं। कृष्ण के साथ दूर–दूर तक आभिजात्य नहीं जुड़ा वे ज़मीन से जुड़े, गाँवों से जुड़ें, यमुना के तट और तमाल के तरुवरों से जुड़े, ग्वालों, गोपियों, गायों से जुड़े और उस बरसाने के बड़ियारे नयनों वाली वृषभानुसुता राधा से जुड़े जिसके ग्रामीण भोलेपन को कायदे से लजाना भी नहीं आता था। कृष्ण इसी लोक में डूबे और लोकपुरूष से पारलौकिक ईश्वर हो गए। लोकमानस की चेतना ने इस चपल ग्वाले को लीलामय बनाते–बनाते अपना ईश्वर, अपना नियन्ता, अपना नियामक बना लिया। सच्चे अर्थों में कृष्ण इस देश की लोकचेतना के शीर्षनायक हैं। वे ऐसे सहज चरित्र हैं जिनके कारण लोकभाव भुलाए नहीं भूला जा सकता। इस देश के कण–कण में कृष्ण हैं। गाँव, ग्वाले, गाय हों, बंसी हो, दही की मथनी हो या कोई अल्हड़ काली कजरारे कोरों वाली किसी कालिन्दी के कांच जैसे जल में अपना प्रतिबिंब निहारती किशोरी, कृष्ण बरबस याद आ जाते हैं।

कृष्ण की व्यंजना बड़ी विराट है। इस व्यंजना के सागर में डूब जाना और फिर डूबते ही जाना हैं, उबरने का कोई प्रश्न नहीं। लेकिन कृष्ण चरित्र का सबसे प्रबल पक्ष उनकी प्रासंगिकता के स्थायित्व का हैं। कृष्ण हर युग में, हर समय में प्रासंगिक हैं और हर समय के प्रसंग के गर्भ से उपजी समस्याओं के निदान देते हैं। कृष्ण का अपना कृतित्व और उनका गीतादर्शन जहाँ एक ओर हमारे संपूर्ण जीवन की वास्तविकताओं से रूबरू कराता है वहीं दूसरी ओर वह जीवन को सच्चे अर्थों में जीने की आधार भूमि देता है। हमारी संस्कृति के धरातल का कोई कोना ऐसा नहीं जिस पर कृष्णत्व की छाप न हो। उनका जीवन दर्शन सिर्फ कर्म और कर्म की दीक्षा देता हैं। बिना कर्म के वे जीवन में प्राण ही नहीं देखते और इस सीमा तक जाते हैं कि कर्म करते रहो, फल की भी आस मत करो। चरैवेति चरैवेति, एकला चलो रे, एकला चलो रे, कृष्ण के दर्शन की रट है, यही अर्न्तध्वनि हैं, इसलिए कृष्ण हर युग में प्रासंगिक हैं क्योंकि बिना कर्म के समय निष्प्राण हैं, युग चाहे कोई होउसकी आत्मा कर्मण्यता ही होती है।

सारे भेदों से दूर, तरह–तरह की लीलाओं से लिपटा यह अनुरागमय, कर्ममय चरित्र हमारा आराध्य ईश्वर नहीं है बल्कि शाश्वत प्रेरण है और प्रेरणा पैदा ही तब होती है जब सारे उद्यम चुक जाते हैं, कहीं उजास नहीं दीखती, मन मुरझाने लगता हैं, तब यही प्रेरणा बरसती

भादों की रात में जन्म कर उफनती यमुना की लहरों को चीरती हुई चल पड़ती है वासुदेव रूपी समय के कंधों पर जग के अंधकार को मेटने, उसे तिरोहित करने और इसीलिए कृष्ण सिर्फ कृष्ण नहीं, अलोक–पुत्र हैं–अंधेरे के !

नदी तुम बोलती क्यों हो ?

कलकल प्रवाह बड़ा वाचाल होता है। प्रवाह धीमा हो तो लगता है कोई गुनगुना रहा है। तेज़ हो तो लगता है वह बात कर रहा है और जब प्रपात के रूप में झरे तो उसका निनाद ऐसा प्रतीत होता है, गोया वह झगड़ पड़ा हो किसी से। भेड़ाघाट में झगड़ने वाली नर्मदा नेमावर में बात करने लगती है और ओंकारेश्वर में गुनगुनाती है।

नदी का बोलते रहना ही उसके प्रवाह का बना रहना है। नदी के गुंजन में, निनाद में जो ध्वनि है यही ध्वनि मनुष्यता की आत्मा है। नदी के इन्हीं स्वरों में मानव ने संगीत खोजा, गीत खोजे, वह कल्पना खोजी, जिसने कहीं अजंता रची तो कहीं खजुराहो, कोणार्क और ताज। नदी यदि बोलती नहीं रहती तो मनुष्यता कें शायद कोई सृजन होते ही नहीं। नदी के बोल बड़े अनमोल हैं। ये बोल अतीत की इबारतें, वर्तमान के निर्माण और भविष्य दीप हैं, जिनकी उन्नत शिखाओं को इन बोलों के तरल स्पर्श से जगमगा जाना है। जब तक नदी के बोल हैं तब तक तिमिर का तिरोहित होते रहना तय है। इन बोलों के गूंजते आलोक कभी निष्प्राण नहीं हो सकता। भले भीष्म की तरह उजाला बिंधा रहे तिमिर के बाणों से और प्रतीक्षा भी करता रहे उत्तरायण की, लेकिन इस उजाले को नदी मरने नहीं देगी। उसके बोल कोशिश करेंगे कि उजाले का अंत भीष्म की तरह न हो, उनकी देह से अँधेरे के तीर निकाले जाएँ और यह गंगा–पुरुष फिर अपने सम्पूर्ण पौरुष के साथ उठ खड़ा हो।

हम सब ओर से निराश हैं, लेकिन नदी के बोल बहुत आशा बँधाते हैं। हम क्यों हैं इतने निराश ? इसलिए कि नदी के बोलों से हमारे तादात्म्य टूट गंए। कभी नदियों के इन्हीं स्वरों से हमने अजंता रची, कोणार्क तराशा, ऋचाएँ गूँथीं वाणी में, लेकिन धीरे धीरे ताल भंग हुई, लय टूटी और अंततः हम टूटे। तिमिर हावी हुआ, उजाले के भीष्म बिंध गए, नदी बहती रही, बोलती रही, लेकिन हम जड़ हो गए। गंगा, कावेरी, सरस्वती और ब्रह्मपुत्र से लेकर ताप्ती और नर्मदा तक सिर्फ श्लोकों में सीमित हो गईं। हमने नादाग्य खोजने की बजाय इन बोलों को बाँधना चाहा अपने–अपने लिए, यह सब उसी का परिणाम है।

नदी खुद कभी ऋचा नहीं हो सकती; ऋचा ज़रूर नदी के प्रवाह को गा सकती है। जब हमारे आदि–पूर्वजों ने नदी की स्तुति की, तो वह वास्तव में उसके प्रवाह की स्तुति थी, उसकी गति के सौन्दर्य का वंदन था, लेकिन हमने इस स्तुति को ही नदी मान लिया। हमने स्तुतिगान की परम्परा बना ली। नदी की वास्तविक महिमा तो उसका प्रवाह है, गति है, लेकिन महिमा के नाम पर नदियों के ऐसे स्तुतिगान हुए जो विभोर तो कर सकते थे लेकिन जो सच्चे कर्म का वरदान नहीं दे सकते थे। नदी की सच्ची पवित्रता तो उसके प्रवाह में विद्यमान है। प्रवाह से परे रहकर जड़ और अवास्तविक महिमा के गान में डूबे रहना, नदी की सच्ची पवित्रता का गान नहीं है। नदी माँ है, अधिष्ठात्री है कर्म की प्रतिमान है गति की, प्रतीक है संकल्प की, प्राण है जिजीविषा का और अस्मिता है मनुष्यता की। उसके इतने विस्तार को कैसे सिर्फ स्तुति में सँजोया जा सकता है ? नदी तो स्रोत से भी परे है और सागर से भी।

नदी सिर्फ गोमुख की धरोहर नहीं, न उस सागर की जिसमें उसे समा जाना है, नदी तो सिर्फ प्रवाह की है, गति की है जो रास्ते की चट्टानों को तोड़कर अपना रास्ता बनाती है। उसका यही प्रवाह, कहीं निनादमय और कहीं मंथर लेकिन अविराम और अविकल– उसे नदी बनाता है, अन्यथा गोमुख से निकलकर वह सिर्फ सीमित हो जाती तो कुंड हो जाती, ताल हो जाती, सिमट जाती और यदि सिर्फ अपने उत्स से निकलकर बिना अपना रास्ता बनाए समुद्र में समा जाती तो उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं होता, वह सिर्फ अथाह जल का एक मौन अंग–भर बनी रहती, लेकिन नदी सिर्फ अपने प्रवाह के कारण नदी है और वह निरन्तर प्रवाहमान है इसीलिए बोलती है, गुनगुनाती है और घोर निनाद भी करती है।

समुद्र गर्जन करता है और नदी वार्तालाप। नदी का यही वार्तालाप हमारे जीवन को परिभाषा देता है। नदी के तट और इन तटों पर बसे तीर्थ वास्तव में नदी की गति की अभ्यर्थना के लिए बने। नदी की गति को शक्ति के रूप में पूज दिया गया, मगर बाद में नदी गौण हो गई, शक्ति गौण हो गई और पूजनीय हो गए पंडे। नदी से सीधा संवाद न हो सके, इसलिए जाने कितने पाखंड रच दिए गए। निर्मल और फेनिल नर्मदा से हम बहुत दूर कर दिए गए। नदी के बोलों से दूर रखने की कोशिशें हुई और इसीलिए हमने अपना प्रदूषण नदी में विसर्जित कर, नदी को प्रदूषित करार देने का एक षड्यन्त्र रच लिया। नदी कभी अपवित्र नहीं हो सकती। उसका प्रदूषण हमारी विकृत वृत्तियों के उसके निर्मल जल में विसर्जन का परिणाम है।

आज भी इतने प्रदूषण से अभिशप्त होते हुए, जगह–जगह बँधते उसके रास्तों को मोड़ देने की कोशिशों से लहूलुहान होते हुए भी नदी क्यों बोलती है ? किसी को इतना प्रताड़ित किया जाए तो वह बोलना तो दूर, देखे तक़ नहीं। लेकिन नदी है कि बोलती है, सतत् बोलती है। गिरिराज हिमालय के विभिन्न स्रोतों से फूटी अलकनंदा, भागीरथी और मन्दाकिनी को सुनें, बहुत वाचाल है उनका प्रवाह। और फिर चाहे रुद्रप्रयाग हो, कर्णप्रयाग, केदार या बद्रीनाथ, इनके स्वर कहीं तीखे, कहीं मधुर और कहीं घोर नाद से परिपूर्ण हो जाते हैं और जब ये तीनों मिलकर हरिद्वार में गंगा बनती है तो नदियों के समवेत स्वर समूची मनुष्यता की झंकार बन जाते हैं। ऋषिकेश और हरिद्वार हमारे जड़ तीर्थ नहीं, मानवता की प्रवाहमान यात्रा के वे पड़ाव हैं जहां साक्षात् गति गूंजती है। नदियों का यह गुंजन, यह अनवरत वाचाल रहना क्या हमें कहीं झकझोरता नहीं ? कहीं बाध्य नहीं करता सोचने को कि यह नदी इतना क्यों बोलती है ?

पहले करता था, अब नहीं करता। पहले इन्हीं वाचाल नदियों के किनारे आश्रम बन जाया करते थे, पर्णकुटियां सज जाया करती थीं। इनके प्रवाह का स्वागत करने शाल और ताड़पत्रों के बंदनवार बँध जाया करते थे और इन सबके बीच कर्म और साधना मिलकर मानव के परिष्कार के लिए नए–नए शिल्प गढ़ा करते थे। नदी बात करती थी, कर्म–पुरुष सलाह लेता था, फिर वह गढ़ दिया करता था इन अरण्यों के बीच किसी राम को, कृष्ण को, अर्जुन को, एकलव्य को। नदी के प्रवाह की प्रेरण से ओंकारेश्वर में शंकर, शंकराचार्य बन जाया करते

थे और माहिष्मती में रेवा के तट पर मंडन मिश्र। हमारी संपूर्ण कर्ममय मनीषा नदी के प्रवाह से सीधे संवाद की देन है और नदी आज भी इसीलिए बोलती रहती है कि शायद इतिहास कभी दोहरा ले अपने आपको।

नदी से बहुत कहता हूँ, चुप हो जा, मौन हो जा, तब्दील हो जा कुंडों में, सरोवरों में, सजा ले अपने आसपास सँवारे हुए कुंज और खिला ले अपने जल में सुन्दर कमल और कुमुदिनी। क्यों बहती रहती है अनवरत कठोर पाषाणों के बीच, तपती धूप में ? कहीं बर्फ में जमना पड़ता है तो कहीं निरन्तर फिसलना, क्यों नहीं देती विराम इस कंटक–भरी, पीड़ा–भरी यात्रा को ? सिर्फ तुझे अपना प्रवाह ही तो रोक लेना है, फिर तो तेरे सौन्दर्य की आरती उतारने जाने कितने देवपुरुष खड़े हैं। लेकिन वह नहीं मानती। वह तो बोलती रहती है, बहती रहती है, पत्थरों से टकराती है तो आह नहीं निकलती, संगीत के स्वर निकलते हैं, कांटों–भरे वन को जब पार करती है तो कराह नहीं निकलती, कोई गीत फूट जाया करते हैं। मुग्ध हो जाना पड़ता है नदी की इस भंगिमा पर।

घंटों कलकल प्रवाहमान नदी के किनारे बैठे रहो। उसके स्वर कभी एकरसता नहीं देंगे। उसका प्रवाह हर बार कुछ नई बात करेगा, हर लहर कोई अद्‌भुत पंक्ति देगी। महानगरों के बीच रचे गए शब्द जाने क्यों बाँधते नहीं, शब्द तो वे बाँधते हैं जो नदी के बीच से उठाकर लाए गए हों। नदी के बीच से बटोरे गए शब्दों ने ही तो हमारी भाषा की अच्छी और प्राणवान पहचान रची है। इन्हीं शब्दों ने सरयू–तट पर रामायण रची और गऊघट पर सूरसागर। इन्हीं शब्दों ने माखनलाल की कविता रची और परसाई का गद्य। नदी से लिये गए इन्हीं शब्दों ने एक निर्धन लेकिन कर्मण्य लोकमानव को सच्चे रूप में व्यक्त किया है।

नदी इसीलिए बोलती है। उससे एक दिन पूछ लिया था, यों वह कोई जवाब नहीं देती। वह बोलती ही रहती हैं। वह क्या बोलती है ? वह अपनी व्यथा नहीं सुनाती, वह हमारी कथा सुनाती है। वह हमारे ज़माने की असमानता का, शोषण का, अन्याय का और विषमता का बयान करती है। वह हरिद्वार से चलती है तो प्रयाग तक आते–आते उसका कंठ रुँध जाता है। वह अमरकंटक से चलती है तो सहस्त्रधारा तक आते–आते उसके बोल बहुत भारी हो जाते हैं। कश्मीर की चिनाब और असम की ब्रह्मपुत्र बोलते–बोलते थक चलीं, पंजाब की सिंधु अब थोड़ी सांमान्य हुई अन्यथा उसके अवरुद्ध कंठ के बोल समझ में नहीं आते थे। तो जब मैंने उससे बार–बार पूछा कि तुम बोलती क्यों हो ?

तो उसने यह जवाब दिया कि तुम यह सवाल ही क्यों करते हो ? मैं बोलती हूँ तो बोलते रहने दो। तुम अपनी कथा सुनो और अपना परिष्कार करो। तुम क्यों बार–बार पूछते हो कि नदी, तुम बोलती क्यों हो? तुम कोशिश करो कि मेरे बोलने से तुम्हारे आचरण में अंतर आए, कोशिश करो कि तुम पारदर्शी बनो, कोशिश करो कि तुम वह बनो जिसके लिए तुम बनाए गए हो। मुझे निरन्तर इसीलिए न जाने कब से बोलना पड़ रहा है कि तुम वह बन नहीं पा रहे, जिसके लिए तुम गढ़े गए हो।

तुम गढ़े गए इसलिए कि तुम जो आज हो उससे कल और बेहतर बन सको। तुम तराशे इसलिए गए कि तुम कुछ ऐसा तलाश सको जो निर्माण का मानक बने। तुम बनाए इसलिए गए कि तुम वह बनाओ जिसकी नींव में कुछ ठोस हो। तुम गतिशील इसलिए किए गए कि तुम पड़ाव भर न बने रहो, मंजिल बनो। तुम्हें अंजुरी इसलिए सौंपी कि तुम आचमन भर करते न रहो, कुछ अर्ध्य भी चढ़ाओ। तुम्हें कंठ इसलिए दिया कि तुम वंदना मत करो बल्कि संघर्ष के लिए जयघोष करो। तुम्हें, मन दिया कि तुम उसे अपनी व्यथा कां सरोवर न बनाओ, बल्कि वह पंछी बनाओ जो उड़कर सारे जग की व्यथा का अंदाज़ा कर सके। तुम्हें संवेदना दी कि तुम रचो, अपने–आपमें बसो नहीं। तुम्हें आराधना दी कि तुम अपने कर्म को अपना आराध्य मानो, अर्चना करो उसकी बजाय ढोंगी जीवित पाखंडियों के। तुम्हें भावना दी कि तुम उस भावना को अंकुराओं, वृक्ष बनाओ और लाद दो इन वृक्षों को अपनी उपलब्धियों के फल से, बजाय इसके कि किसी गमले की तुलसी के फेरे लगाकर अपने–आपको धन्य समझो। उस तुलसी को वृक्ष बनाकर उसकी मंजरियों को बिखेर दो माटी के कण–कण में, ताकि पवित्रता का क्षेत्रफल बढ़ सके।

तुम्हें इतना कुछ दिया, फिर भी जाने कितनी सदियों से तुम वैसे के वैसे हो। उँगलियों पर गिने जाने वाले बहुत कम लोग मेरे, बोल समझ पाए और पूर्ण हो पाए। पीढ़ियाँ दर पीढ़ियाँ गुजरीं, लेकिन इन पीढ़ियों के बीच बहुत कम मानव जन्म पाए– पूर्ण मानव, जीवंत मानव, कर्मण्य और प्राणवान मानव ! शेष तो मानव के नाम पर सिर्फ मानव की संज्ञा–भर बने रह गए।

मैं भी विश्राम चाहती हूँ थोड़ा, विराम देना चाहती हूँ गति को, मौन मुझे भी अच्छा लगेगा, लेकिन मेरी विवशता है बहना और बोलते रहना क्योंकि तुम बह नहीं पा रहे, प्रवाह से एकात्म नहीं हो पा रहे, समो नहीं पा रहे मेरे में अपने आपको। अकेले मुझमें स्नान करने से मुझे परितृप्ति नहीं मिलेगी, इसलिए तुम बेहतर बनो, मानक बनो, मंजिल बनो, अर्ध्य चढ़ाओ, संघर्ष का जयघोष करो, उड़ो जग की व्यथा जानने को, रचो, आराधना करो कर्म की और बिखेर दो तुलसी की गंधिलं मंजरियाँ इस विश्व की माटी के बीच। मैं वायदा करती हूँ कि जिस दिन तुम यह सब कर, लोगे, स्वयं प्रवाह बन जाओगे, मैं उसी पल बोलना बंद कर हमेशा के लिए सागर का मौन अंग बन जाऊंगी।

नीलकण्ठ तुम नीले रहियो...

बचपन कभी–कभी बेहद याद आता है। प्रौढ़ता के प्रति बचपन में बड़ा आकर्षण रहा करता था, प्रौढ़ों को मिलने वाले सम्मान और अधिकार देखकर बड़ी ईर्ष्या होती थी। लेकिन जब प्रौढ़ हुए तो बचपन बहुत याद आने लगा; प्रौढ़ता अखरती है क्योंकि अब मालूम पड़ता है कि यह प्रौढ़ता वास्तव में कितनी बड़ी छलना है जिसने बचपन की निश्छलता का अंत कर दिया। इस प्रौढ़ता ने बहुत कुछ छीन लिया। हमारी निर्मल दृष्टि छीन ली, सहज विचार, सरल आचरण और निष्कपट व्यवहार छीन लिए और बदले में दे दिए छद्म, पाखण्ड, झूठ और ऐसे आवरण जो हमें ढकते कम और उजागर ज़्यादा करते हैं। इसीलिए निरावृत बचपन की याद रह–रहकर अक्सर सताया करती है।

बचपन की कोयल, बचपन के कदम्ब, बचपन की पाँखुरी और बचपन के पखेरू सब याद आते हैं। आज जब याद करने बैठा हूँ तो नीलकंठ याद आ गया। बचपन में जब दशहरा जीतने जाते थे तो दादी कहती थी कि कहीं नीलकंठ दिख जाए तो ज़रूर देखना। उसे सौभाग्य का सूचक माना जाता है। दादी एक पंक्ति भी सुनाती थी :

"नीलकण्ठ, तुम नीले रहियो, हमरी बात राम से कहियो..."

इस बार कान्हा जाना हुआ तो वहाँ के घने शालवनों में एकान्त में फुनगियों पर बैठे नीलकण्ठ दीख पड़े तो तत्काल उड़ गए हमें देखकर। गाइड ने उसका जन्तु – शास्त्रीय नाम बताया 'इंडियन रॉलर', आदतें बताईं, उसके अद्‌भुत सौन्दर्य का वर्णन किया, उसकी चर्चा बताई, आहार के बारे में बताया; लेकिन मेरा मन तो मुड़ गया अपने बचपन की तरफ, मेरी दादी की पंक्ति बार–बार नीलकंठ को देखकर मन में गूंजने लगी :

नीलकंठ, तुम नीले रहियो, हमरी बात राम से कहियो...

बड़ा सुन्दर और भोला पक्षी है नीलकंठ। कुदरत नें उसे तरह–तरह के रंगों से कुछ इस तरह सराबोर किया है कि उसे देखा तो लगता है कि जैसे इंद्रधनुष को गोल आकार में ढालकर उसे टहनी पर बिठा दिया हो। उसके मोहक रंगों की शोभा, सृष्टि के सौन्दर्य का गुमान कराती है। उसकी आँख से एक निश्चल ममत्व झाँकता है; बाज़ की आँखों की तरह शरारत नहीं। पहली दृष्टि में ही लगता है कि उसके भोलेपन पर रीझकर कुदरत ने अपने मन से उसकी देह पर अपने सुन्दरतम रंग उड़ेल दिए होंगे। उसकी आवाज़ सुनाई नहीं देती, लेकिन उसकी देह का रोम–रोम बोलता है। उड़ता है तो उसके नीले पंख तैरते ऐसे दिखाई देते हैं जैसे एक असीम नीले आकाश की छांह में एक छोटा–सा आकाश उड़ रहा हो। मेरी अम्मा का वह भाव जो बचपन में इस पंक्ति को सुनाते उपजा होगा, मुझे आज भी विभोर कर देता। वह भाव मेरी उस बूढ़ी दादी को धरोहर के रूप में परम्परा से मिला। उस भाव मूल में यही था कि अपने बचपन के निष्पाप विचार और आकांक्षाएँ बता दो नीलकण्ठ को, वह तुम्हारी बात कह देगा राम से। तुम तो छोटे हो, कह नहीं सकते तो यह नीलकण्ठ कह देगा। अम्मा

का यह कहना बड़ा स्वाभाविक था। वह चाहती थी कि इन बच्चों के अन्दर जो शिशु राम बैठा है, जो अभी बोल नहीं पाता लेकिन जन्म गया है ऐसे विसंगत संसार में, उस बालक राम की भावनाएँ उस सच्चे राम तक पहुंचें। यह आस्थावादी दृष्टि भले पारम्परिक रही हो लेकिन बड़ी स्निग्ध, नेहमयी और सारे तर्कों से परे थी, उसमें एक निर्मल भावना की उदात्तता थी, असीम आशीष का वैराट्य था, राम से राम को जोड़ देने की एक निष्कपट कामना और ललक थी। नीलकण्ठ उसके लिए वह भोला पक्षी था जो छोटे–छोटे रामों की निश्छल भावनाओं को सच्चे राम तक पहुंचाने का माध्यम था और इसीलिए वह सौभाग्य का सूचक था, पूजनीय था।

दादी नीलकण्ठ के नीले बने रहने की इसलिए कामना करती थी कि नीला रंग शिवत्व का प्रतीक है, इस मायने में वह शिव का रूप है, और शिव का सीधा संवाद है राम से, राम को तो सुनना ही है शिव को, इसलिए नीलकण्ठ से श्रेष्ठ कोई दूसरा माध्यम नहीं हो सकता। इसीलिए दशहरे पर बच्चों को समझाकर कहती थी कि नीलकण्ठ को देखकर नमन करना और कहना 'नीलकण्ठ, तुम नीले रहियो, हमरी बात भगवान से कहियो' और जो तुम्हारे मन में है उसे निस्संकोच कह देना।

इतने वर्षों बाद जब मैं आसपास नज़र दौड़ाता हूँ तो कहीं नीलकण्ठ नहीं दीखते। वनों में कभी–कभार दीख जाते हैं लेकिन वे देखते ही उड़ जाते हैं, वे बात तक सुनने को तैयार नहीं, देखने को तैयार नहीं। हुआ यों कि ज्यों–ज्यों हमारे मनों का राम–तत्त्व तिरोहित हुआ, नीलकण्ठ विलुप्त होते चले गये। राम कभी ईश्वर नहीं रहे, ईश्वरत्व तो हमने आरोपित कर दिया। वे तो अपनी समग्रता में सिर्फ निस्सीम मनुष्यता के महान् अस्तित्व हैं। हमने मनुष्यता खो दी, छद्म ओढ़ लिये, पाखण्ड रच लिए तो हमसे राम भी दूर हुए और नीलकण्ठ भी। नीलकण्ठ में सच्चे शिवत्व की तलाश जिस निश्चल आस्था–भाव से बूढ़ी दादी ने की, हमने उस आस्था–भाव को ही त्याग दिया। उस आस्था–भाव को त्याग देने में कोई बुराई नहीं थीं बशर्ते कि उसके विकल्प के रूप में हम कहीं उससे ऊँचा भाव गढ़ते।

हम तो चाहते हैं कि नीलकण्ठ हमारे लिए, हमारा उगला हुआ विष पीकर नीला बना रहे और राम तक हमारे पाखण्ड, छद्म और स्वार्थ की बातें पहुँचाने के बजाय यह झूठ पहुँचाये कि हम बड़े दुखी हैं, निराश हैं, तंग हैं, अंधेरे में हैं, विवश, वक़्त के मारे हैं, बेचारे हैं, बड़े अनासक्त हैं, फिर भी तुम्हारे भक्त हैं, इसलिए हे राम, हमारा उद्धार करो ! हमारी भीरुता की यह पराकाष्ठा है कि हमने अपने में विराजे राम तो विसर्जित कर दिए और नीलकण्ठ के माध्यम से उस राम तक अपनी बातें पहुंचाना चाहते हैं जिसके अस्तित्व के साक्षात् से भी डर लगता है ! क्यों चाहते हैं हम नीलकण्ठ का माध्यम? हम खुद क्यों नहीं बनना चाहते नीलकण्ठ ? हम क्यों बजाय विष पीने के, उसें उगलते हैं और अपना बिष नीलकण्ठ को पीने के लिए मजबूर करते हैं? मुझे बड़ी दया आती है नीलकण्ठ पर। करुणा का पात्र है वह। हम अपनी सुविधा के लिए उसे जाने कब से मजबूर कर रहे हैं विष पीने को। यदि हम यह क्रूरता छोड़ देते तो बहुत संभव था कि जाने कितनी पीढ़ियों पहले नीलकण्ठ के वंशज हमारे विष के नीलेपन को तजकर धवल हो गए होते। लेकिन हम तो किसी क़ीमत पर उसे उजला नहीं

देखना चाहते; चाहते यही हैं कि वह हमारे झूठ को पहुँचाने का माध्यम भर बना रहे और इसीलिए वह जब कभी दीख जाता है – हम चिल्लाने लगते हैं, नीलकण्ठ तुम नीले रहियो –

हम क्यों न सीधा संवाद करें सम से ? हममें इतना साहस नहीं कि हम राम से संवाद कर सकें, इतना भी नहीं कि उस राम को खोजें तो, जिसके लिए नीलकण्ठ से आग्रह करते हैं। इतिहास में ऐसे साहसी हुए हैं, लेकिन जाने कितनी सदियों में ! एक ऐसे ही साहसी कबीर थे जो बोले –

मोकों कहां बंदे ढूंढे, मैं तो तेरे पास मं।
ना मैं देवल, ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलास में।।

इस कबीर को किसी ने माना, किसी ने धिक्कारा लेकिन जिन्होंने माना कबीर ने को वे कबीर के मर्म तक नहीं पहुंच पाए। एक दीपशिखा जागी लाकन उसका जागरण अधूरा रह गया। नीलकण्ठ–प्रेमी इस दीपशिखा के आलोक को तिरोहित करने के लिए संगठित, हों गए और बुझ गई यह ज्योति–वर्तिका।

मेरी दादी का वह सहज आस्था–भाव जिस नीलकण्ठ की आराधना करता है, वह बिलकुल भिन्न है हमारे भाव से। उसके आस्था–भाव के नीलकण्ठ बार–बार विष पीने को मजबूर नहीं हैं; वे तो शिवत्व के प्रतिरूप हैं जिन्होंने एक बार हलाहल पिया और सदैव के लिए एक महान् इच्छाशक्ति के प्रतीक बन गए। हमारे लिए नीलकण्ठ शिवत्व का प्रतीक नहीं है, वह तो हमारे छद्म को छुपानेवाला वह माध्यम है जिसमें हम बार–बार विष आरोपित करते हैं अपना, और देखना चाहते हैं उसमें गरलपायी शिव का प्रतिबिंब। यह नहीं सधेगा। दोनों चीजें नहीं सध सकतीं एक साथ। या तो वह सहज आस्था–भाव साधना होगा जो बड़ा निर्मल, निष्कलुष और बिना किसी अपेक्षा का समर्पण–भाव है जो नीलकण्ठ को शिवत्व का प्रतीक मानमकर पूजता है और उम्मीद करता है कि यह समर्पण राम तक अपनी कथा पहुँचाने का सीधा माध्यम है, या साधना होगा वह कबीर–भाव जो सारे पाखंड को त्यागकर अपने में समाए राम से सीधी बात करना चाहता है, वह राम को कहीं ढूंढने की ज़रूरत महसूस नहीं करता। हमारी मुश्किल है कि हम दोनों भाव एक–साथ साधना चाहते हैं। हम अपने छद्म, पाखंड और स्वार्थ को कायम इसे उपजे विष को नीलकंठ को मिल भी जाते है और इस तरह उसमें शिवत्व आरोपित कर राम से संवाद भी चाहते हैं। कबीर ने तो बिना किसी नीलकण्ठ के माध्यम से अपनी सहज साधना से अपने सम से संवाद स्थापित कर लिया था। हम साधना भी नहीं करना चाहते, छद्मों के मोह को त्यागना भी नहीं चाहते, समर्पित आस्था–भाव भी नहीं संजोना चाहते, लेकिन राम तक ज़रूर अपनी झूठी व्यथा पहुँचाना चाहते हैं।

हमारे इस छद्म से, स्वार्थ से बहुत तंग आ गया है नीलकण्ठ। वह अब हमें देखना भी नहीं चाहता। कान्हा में हमारे सामने भय–भाव से हरिण खड़े रहे, डालों पर तोते बैठे टुकुर–टुकुर देखते रहे, कई तरह की चिड़ियाएँ आसपास चहचहाती रहीं, लेकिन बुजुर्ग शाल वृक्ष की फुनगी पर बैठे नीलकण्ठ ने ज्यों ही हमें देखा, तपाक् से उड़ गया। धीरे–धीरे यही हो

रहा है। मनुष्य अब अकेला हो चला। उसका साथ न मौसम देते हैं, न मासूम पखेरू। जब से मनुष्य ने मासूमियत त्यागकर गुमान ओढ़ा, निश्छलता त्यागकर छल ओढ़ा, शक्ति के नाम पर शोषण को उसका पर्याय बनाया, तब से वह बेहद अकेला होता चला गया और इस भरम में वह आज भी जी रहा है कि उसके साथ तो सभी हैं। यह एकाकीपन उसे सालता नहीं, सुकून देता है। इस सुकून ने हमारे अंदर जन्मने वाले रामों को विराम दे दिया। इस भयावह सुकून की प्राप्ति के लिए हमने अपने आसपास की नैसर्गिकता ख़त्म कर ली और अब केबल निसर्ग के नाम पर कुछ कान्हा जैसे अभ्यारण्य बचे हैं, जहाँ के पशु और पक्षी भी बड़े भय से हमारी ओर देखते हैं, नीलकण्ठ नफ़रत से देखकर उड़ जाता है।

वाह रे मालिनी के तट पर बसे कण्व के पर्णकुटीरों के देश, जिसकी हरी दुर्वा–भूमि पर सिंह–शावकों, गजों और वन पखेरुओं के सान्निध्य में इस भारत के निर्माता भरत का शैशव पला, वसिष्ठ, विश्वामित्र, राम, जानकी लव और कुश के जिस देश की नियति को इन जंगलों ने रचा, वाह रे वह देश जिसके वाल्मीकि ने क्रौंच के मर्मान्तक वियोग को शब्द दे भाषा की अस्मिता को अमर कर दिया, वाह रे पंचवटियों, पर्णाश्रमों, पाण्डवों, पनिहारिनों, पनघटों, पंगडंडियों, पल्लवों और पांखियों के देश जिसकी सीमा और संस्कृति दोनों को अरण्यों की नैसर्गिकता ने रचा, उसे आज अरण्यों को खोज–खोज कर उन्हें अभ्यारण्य घोषित करना पड़ रहा है। कभी–कभी लगता है कि यदि स्मृतियां धरोहर के रूप में नहीं मिलतीं तो बड़े सुखी रहते, इनके दंश बहुत चुभते हैं।

तो जब कान्हा में नीलकण्ठ देखा तो बहुत कुछ याद आया– अम्मा, दशहरा, कबीर, अपना आज का संसार, अपना सुकून और अपनी संवेदनशून्यता।

हमें कुछ करना होगा। यदि कुछ नहीं किया तो हम गुनहगार होंगे इतिहास में कि हमने हमारी पीढ़ियों को नष्ट करने के लिए कोई कसर नहीं छोड़ी। हम नहीं जानते कि हम अपने इन कामों से जाने कितने हिरोशिमा और नागासाकी के ध्वंस की आधारशिलाओं को आकार दे रहे हैं। एक बड़ा विकल्प गढ़ना होगा जो हमें वह पौरुष दे कि जिसकी सामर्थ्य के बल पर हम अपने–अपने मनों में पौरुष भर राम को जन्म दे सकें। यह विकल्प हमें ताकत दे कि हम अपने छद्म और पाखंडों तो त्यागें, वह दृष्टि विकसित करें जो कर्म की आरती उतारने को तत्पर दीपशिखा के रूप में प्रज्वलित है।

अतीत के गौरव अब हमारे लिए भग्नावशेष हैं। इन गौरवों की स्मृति रहे, वे प्रेरक बने रहें। लेकिन, अब समय आ गया है जब नए निर्माण के संकल्प लेने होंगे। अपनी संवादहीनता और संवेदनहीनता से छुटकारा पाना होगा। अभ्यारण्यों को सहज अरण्यों में बदलकर नए सिरे से सीमा और संस्कार दोनों सृजित करने होंगे। ऐसा हो पाएगा, क्योंकि अभी दृष्टि ज़िंदा है, मनुष्य ज़िंदा है, मिट्टी ज़िंदा है, और जब तक यह स्पंदन है, सर्जन की आस नहीं छोड़ी जा सकती।

उम्मीद करें कि शनैः शनैः नीलकण्ठ धवल होते जाएँगे। ज्यों–ज्यों हम पौरुषमय होंगे त्यों–त्यों नीलकण्ठों के पंखों पर सफेदी लौटने लगेगी। वे फिर माध्यम नहीं रहेंगे और हमें यह नहीं कहना पड़ेगा कि 'नीलकण्ठ, तुम नीले रहियो, हमरी बात राम से कहियो...'।

सर्जन फिर विसर्जन या फिर सर्जन

यह कैसा निरंतर विसर्जन है ? इतना निरंतर कि सर्जन होता भी नहीं पूरा और विसर्जन की तैयारी शुरू हो जाती है। इतनी तीव्रता है विसर्जन की कि लोग फेंकने को विसर्जन कहने लगे। बड़ी तेजी से यह विसर्जन जारी है। तट भरे पड़े हैं, नदी सराबोर है, पानी नहीं दीखता, प्रवाह नहीं दीखता, सिर्फ विसर्जित अवशेष ही दिखाई देते हैं।

ऐसा नहीं हुआ पहले। विसर्जन पहले भी होते रहे, लेकिन वे सारे विसर्जन बड़े, रचनात्मक थे। विसर्जन का उद्देश्य विसर्जित होने वाले सर्जन से, उससे कहीं बड़े सर्जन के निर्माण के संकल्प की भावना के साथ होता था। एक नए निर्माण के उत्साह की आकांक्षा के साथ पुराने निर्माण का विसर्जन होता था। लेकिन आज का यह विसर्जन बड़ा दहला देनेवाला है।

हम गढ़ने के नाम पर अधूरे शिल्प गढ़ते है, बड़ी तत्परता से गढ़ते हैं और उन्हें तुरंत विसर्जित कर देते हैं। हमारी सारी कर्मशक्ति और ऊर्जा का अपव्यय हो रहा है; हासिल कुछ नहीं हो रहा।

हम खँडहरों के बीच गुज़ारा कर रहे हैं। खिसकती ईटों को सहेज देते हैं और हर मौसम का सामना कर लेते हैं। सोचते हैं कुछ नया बनाएँ, लेकिन नया निर्माण आरम्भ होता है, थोड़ा होता है और विसर्जित कर दिया जाता है, खंडहर फिर अपने बीच हमें खींच लेते हैं। खंडहरों से मोह भी नहीं छूट पा रहा और न ही ऐसी इच्छाशक्ति जन्म पा रही है जो इन खँडहरों को पूरी तरह तोड़कर कोई नया निर्माण कर सके, ठोस और स्थायी निर्माण।

ऐसा क्यों है? इसलिए कि हम बेहद तदर्थवादी हैं। हम चाहते हैं बस अपने–अपने बसेरों को जैसे–तैसे बचा लिया जाए, उन्हें ही सँवार लिया जाए, आज का दिन बीत जाए अच्छा, कल फिर देखा जाएगा; या जो कुछ कल देखना है उसे भी आज ही देख लो। हम बेहद व्यक्तिवादी, उपयोगितावादी और अपने–अपने सीमित घरौंदों में जीनेवाले वे लोग हैं जो विश्व–संस्कृति और विश्व–कुटुंब की बातें करते हैं। हमारा अपना कोई व्यक्तित्व नहीं, दूसरों के व्यक्तित्व की खामियों को तलाशने में पूरा समय जाया करते हैं।

तो फिर स्थायी निर्माण कैसे हो ? निर्माण यों ही नहीं होता। निर्माण एकता माँगता है, संकल्प–शक्ति चाहता हैं, उर्जा के अक्षय स्रोतों का भण्डार चाहता है, मोहत्याग चाहता है, एक नैसर्गिक स्वतंत्रता चाहता है। चाहता है कि नींव पहले भरी जाए, कलश बनने की चाहत किसी में न हो। निर्माण, कलश–कामनावाले कापुरुषों का पहले ध्वंस चाहता है। इसलिए कोई भी स्थायी निर्माण तब तक संभव नहीं जब तक कलश–कामना करनेवाले अकर्मण्य महत्वाकांक्षियों की भीड़ है। इस भीड़ का छँट जाना ज़रूरी है, आवश्यक है इसे खत्म करना। बिना इस भीड़ के खत्म हुए कोई निर्माण हो ही नहीं सकता कलश–कामना करनेवाले आज कतई प्रासंगिक नहीं हैं। प्रासंगिक तो वे हैं जिन्हें कोई कामना नहीं। जिनकी कोई कामना

नहीं, उनकी पहली कामना यह होनी चाहिए कि वे इन कलश – कामनावालों को छाँट दें. और खुद निर्माण की अदम्य इच्छाशक्ति के साथ अपने हाथों में कुदली लेकर, निर्माण के औज़ार लेकर सामने आएँ।

एक बड़ी मुश्किल यह है कि ऐसे जो कामनाहीन लोग हैं, उन्हें हमारे आभिजात्य ने जान–बूझकर पीछे धकेल दिया, उन्हें समझा दिया कि निर्माण में तुम्हारी कोई भूमिका नहीं, जरूरत नहीं, तुम किसी तरह गुज़ारा करो उम्र का और गुजर जाओ, तुम्हारे पूर्वजन्मों के पाप तुम्हें इजाज़त नहीं देते कि तुम निर्माण–जैसा पवित्र कार्य करो। निर्माण की बागडोर उन्होंने हाथ में ले ली जो या तो कोई नया निर्माण नहीं चाहते, या चाहते हैं तो इस शर्त पर कि नए निर्माण के कलश के रूप में वे ही सुशोभित हों।

पहले के विसर्जनों से कोई सीख नहीं ली गई। राम ने जब रावण की लंका को ध्वस्त किया तो उसके पूर्व वे अपने पुरुषार्थ और मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करते चले, रोपते गए पग–पग पर बंधुत्व, कर्मण्यता, स्नेह, सौहार्द्र, समानता के बीज; और जब रावण के रूप में दानवता के मूल्यों को परास्त कर वे लंका से लौटे तो पूरे रास्ते उन्हें इन रोपे गए बीजों के लहलहाते पल्लवित वृक्ष स्वागत करते दिखाई दिए; और जब अपने गृहद्वार पर उतरे तो मानवता के उत्कृष्टतम मूल्यों की दीपशिखाएँ अपनी आरती में सँजोऐ समूची अयोध्या उनके अभिनंदन को तत्पर खड़ी मिली। राम ने दानवीय मूल्यों के विसर्जन के पूर्व अपने पोरुष से, मानवीय मूल्यों की आधारशिला अयोध्या में उसी पल रख दी थी जब अपनी विमाता के वचन को निबाहने के लिए वे राजपुरुष से एक क्षण की बिना देर किए वल्कल पहनकर वनपुत्र बन, दंडकारण्य के कँटीले पथरीले पथों पर निकल पड़े। राम के इस विसर्जन के पूर्व के सृजन से हमने सीख नहीं ली।

इसी तरह उस महान् ऐतिहासिक कृष्ण से भी कोई सीख नहीं ली, जिसने निर्मम कंसत्व के विसर्जन के पूर्व वृंदावन को अपनी रसभरी रचना–सृष्टि से सराबोर कर दिया, जिसने युमना के तीरे पर कदंब और तमाल वृक्षों के तले एक शीतल कुंज–संस्कृति रची, जिसका मर्म आज भी हर मन को अराधना के राधा–भाव में भिगोता है, जिसने महाभारत के पूर्व ही निष्काम कर्मयोग के संस्कार रोपकर एक नए सर्जन का सूत्रपात किया और फिर एक महान् जयघोष के साथ अर्जुन के माध्यम से कौरवों के रूप में बिखरे मानवीय प्रदूषण को एक पवित्र शुद्ध गंगा में विसर्जित कर दिया।

कर्मकांड के विसर्जन के पूर्व राजपथ त्यागकर महावीर और बुद्ध वनपथों और जनपथों की ओर मुड़े। वहाँ उन्होंने अपनी ज्ञानसाधना के बल पर सत्य और अहिंसा के विमल मूल्य लोकभाषा में स्थापित पहले किए, फिर यह स्थापना एक उद्यम प्रवाह बनी जिसमें सारा कर्मकांडी आडम्बर अपने–आप विसर्जित हो गया। लेकिन इस महान सर्जन से भी हम कुछ नहीं सीख पाए।

ये सारे रचना–पुरुष हमारी धरोहर के उत्कृष्ट रचयिता, बजाय महान सर्जकों के रूप में भगवान बनाकर पूजे जाने लगे। उनके कर्म की प्रेरणा मालाओं में बंदी बना दो गई। उनके स्वर घंटियों और घड़ियालों के तुमुल निनाद में खो गए और उनका स्वरूप पाषाणी शिल्पों में विलीन हो गया और इस तरह हमने आकार भले सँजो लिए, लेकिन आकाश खो दिया, हम नहीं जानते कि अनजाने में हमने उन असीम आकाशों को विसर्जित कर दिया, जिनके क्षितिजों से हमारे विकास की संभावनाओं के असंख्य सूरज फूट सकते थे।

अब करें क्या ? क्या बाट जोहते रहें समय की कि कभी–न–कभी ऐसा समय आएगा जब निर्माण हो जाएगा और हम सब मुक्ति पा लेंगे, इस तदर्थवाद के अस्थायीपन की पीड़ा से ? समय की बाट जोहते–जोहते तो यह समय आ गया कि अब हाथ बजाय कुछ नया गढ़ने के खंडहरों की ईंटों सहेजने लगे। नहीं, ऐसा समय इस तरह नहीं आएगा। अपने–आप कुछ होगा नहीं। कोई जादू नहीं होगा, चमत्कार नहीं होगा, स्वर्ग से कोई विश्वकर्मा नहीं उतरेगा धरती पर। अब तो हरेक को विश्वकर्मा बनना होगा। करना सिर्फ यही होगा कि हम करने के रास्ते पर अग्रसर हो लें। यह भी ज़रूरी नहीं कि संयोगों की राह देखी जाए, हम प्रतीक्षा करने लगें एकता की, संकल्पशक्ति के उदय की, ऊर्जा के भंडारों के भरे जाने की, मोह के त्यागे जाने की, नैसर्गिक स्वतंत्रता के आगमन की। संयोग राह देखने से कभी नहीं जुड़ते, वे जुड़ते तब हैं जब राह पर सफर शुरू हो जाता है। सफ़र शुरू होगा तो ये सब आने–आप जुड़ जाएँगे। आज सबसे महत्वपूर्ण कर्मठता है। एक सवाल यह भी किया जा सकता है कि क्या कोई कर्म हो ही नहीं रहा ? यदि कर्म हो रहा तो फिर विकास कैसे हो रहा है ? उपलब्धियाँ कैसे लिखी जा रही हैं? यदि कर्म नहीं हो रहा तो फिर क्या कोई शून्यता व्यापी है ? शून्यता तो व्यापी दीखती नहीं, चारों ओर तो कोलाहल है, फिर कैसे कहें कि राहें सूनी हैं, कर्मपथ पर कोई अग्रसर नहीं हो रहा ? सही सवाल है।

कर्म हो रहा है, कोलाहल हो रहा है, राहें भी सूनी नहीं हैं, बल्कि लोग दौड़ रहे हैं उन पर, लेकिन जिन राहों पर लोग दौड़ रहे हैं, वे राहें ज़रूर हैं लेकिन कर्मपथ नहीं, और जो दौड़ रहे हैं कोलाहल करते हुए वे कर्मपुरुष नहीं, कलश–कामनी पुरुष हैं। विकास हो रहा है, लेकिन उदार मनुष्यता के ध्वंस पर। यह विकास जिन धरातलों पर हो रहा है वे धरातल पंकिल हैं अपने–अपने स्वार्थों के पंक से। जो उपलब्धियाँ लिखी जा रही हैं वे निजी ज़्यादा हैं, सामाजिक कम, और जो सच्ची उपलब्धियाँ हैं या विकास के शिखर हैं, वे अपवाद रूप में कुछ गिने–चुने कर्म की देन हैं।

हम अभी तक अपवाद ही भुनाते आए। अपवाद–रूप राम से रहीम तक, कृष्ण से कबीर तक, नानक से निराला तक, मीरा से महादेवी तक हमने किया क्या है?' सिर्फ इन अपवादों को गिनाकर अपनी श्रेष्ठतता साबित करने की कोशिश की।

इन अपवादों ने कभी नहीं कहा कि हम जैसे बनो। हम प्रचार करने लगे कि तुम जैसे बन तो नहीं सकते, लेकिन हम तुम्हें पूज ज़रूर देंगे ताकि तुम आशीर्वाद देकर हमें बिना कुछ किए वह सब सौंप दो जो हम अपनी कर्मण्यता से पा नहीं सकते। आज के ये सारे आडम्बर

इन महान अपवादों को पूजने के नाम पर नकारने की कोशिशें हैं ताकि हमारी अकर्मण्यता छुपी रहे।

एक अंतहीन–सा सिलसिला है, इन विश्लेषणों का। विश्लेषण भी हमने ऊब गए। ये सारे विश्लेषण अब हमें विशेषण सौपने लगे– कर्महीन, दिशाहीन, स्वार्थी, लोलुप और न जाने क्या–क्या!

ये विशेषण हमारे अस्तित्व से कैसे पृथक हो पायें ? – इस प्रश्न का उत्तर सिर्फ हमारी मूक कर्मण्यता देगी।

बेहद ज़रूरी है विसर्जन, लेकिन किसका ? – यह तय करें और फिर पग–पग पर निर्माण के बीज रोपते हुए तट की ओर बढ़ चलें। गंगा से नर्मदा तक और कावेरी सें यमुना तक की लहरें बहुत ऊंची उठ–उठकर आतुर हो रही हैं, देखने इन बीजों के अंकुरण को। ऐसा भी होगा कि जब ये बीज अँकुराकर लहलहाने लगेंगे तो इन नदियों की लहरें अपने आप समो लेंगी अवशेषों को। हमें विसर्जन के लिए धार के बीच तक भी जाना नहीं पड़ेगा।

फिर फूले पलाश तुम

पलाश तुम फिर फूल उठे। डालियाँ ढक गईं, झुक गईं चारों तरफ। तुमने अपनी केशरिया आभा बिखेर दी, उत्सव मनन लगे तुम्हें खिलते देखकर। तुम फूले हो और सब वसंत के रंग में डूबे हुए हैं। तुम फूले हो और प्रकृति केशर से नहा उठी है। तुम फूले हो और बाँसुरी बज उठी मन की। तुम फूले और तुम्हें देखकर नवोढ़ा लजा गई, उसके कपोल भी तुम्हारी पाँखुरियों की तरह आरक्त हो उठे। तुम्हारे फूलते ही रस, रंग और गंध का सैलाब उमड़ पड़ता है। तुम ऋतुराज के राजा हो।

तुम्हें अच्छी तरह याद होगा, सदियों पहले एक चंचल नवयौवना ने तुम्हें ब्रज के आसपास फैले वन की पगडंडियों से बीना था और तुम्हें कालिंदी के पानी में भिगोकर, उस केशरिया जल से एक साँवरे को सिर से पाँव तक नहला दिया था। उस सलोने युवक ने भी यही किया और दोनों पलाशमय हो गए। यह घटना तो तुम्हें ज़रूर याद होगी। क्योंकि तुम उसी पल से तो पलाश हुए, वरना उसके पहले तुम इसी पल की तलाश में भटका करते थे। फूलकर, झर जाया करते थे। समय यों ही फिसल जाया करता था। राधा ने तुम्हारे फिसलते पलों को अपनी पलकों पर रोक कर तुम्हें पलाश बना दिया। तुम चिर ऋणी हो राधा की दृष्टि के। यदि वह तुम पर नहीं पड़ती तो तुम अचीन्हे ही रह जाते। राधा तुम्हारी अस्मिता की पहचान है।

तुममें न तो गंध है, न रूप फिर भी तुम वसंत के नायक पुष्प हो। जानते हो क्यों ? इसलिए कि तुम्हारा रंग वासंती है और तुम्हारे पोर–पोर से केशर की पीताभ आभा झाँकती है। तुम्हें भले भँवरे न घेरे रहें, लेकिन उनकी गुंजार का सार तो तुम्हारे वासंती वैभव में समाया रहता है। इसीलिए तुम वसंत के सच्चे प्रतिनिधि प्रतीक और प्रतिमान हो।

तुम हो भी बड़े उदारमना। उन पगडंडियों पर बिछ जाते हो, जो तुम्हारे पेड़ के नीचे से गुज़रती हैं, तुम उन पुष्पों में से नहीं हो, जो सूखकर डालियों पर ही झर जाते हैं या जिनकी पाँखुरियाँ हवा में सूखकर इधर–ऊधर कहाँ उड़ जाती हैं पता ही नहीं लगता। तुम्हारे पल्लवित रहने और सूख जाने में कहीं अंतर नहीं जान पड़ता। यही तो मौलिक गुण है तुम्हारी प्रतिष्ठा का। तुम फूले भी वसंत के लिए, और सूखे भी वसंत के लिए। अवसरवादी नहीं बने। तुम्हारे इसी समर्पण ने तुम्हें वसंत की आत्मा बना दिया। तुम्हारा वसंत के प्रति यह मौन समर्पण ही तो तुम्हें ऋतुराज के प्राणों के रूप में प्रतिष्ठित कर गया।

तुमको लेकर जाने कितनी कविताएँ रची गई होंगी, गीत लिखे गए होंगे, जाने कितने मधुर कंठों ने उन्हें गाया होगा, मगर अपने इस प्रशस्ति गान से तुम आज तक अप्रभावित ही रहे। कई फूल ऐसे होते हैं, जिन्हें प्रशस्ति गान सुनने की आदत हो जाती है। वे बिना प्रशस्ति के कुम्हला जाते हैं, मुरझा जाते हैं, लेकिन तुमने प्रशस्ति को कभी प्रतिष्ठा ही नहीं दी। शायद उसका यह कारण है कि तुम आभिजात्य पुष्प नहीं हो। तुम जंगल के फूल हो, बिना किसी के उगाए तुम्हारा पेड़ उग आता है और बिना किसी प्रयास या मान–मनौव्वल के तुम खिल जाते

हो। तुम्हें न तो उपवन चाहिए न माली। तुम्हें अपनी अस्मिता की पहचान बनाने के लिए किसी प्रदर्शनी की भी ज़रूरत नहीं, इसलिए तुम ज़मीन से उगे, उसकी मिट्टी में रचे–बसे नैसर्गिक फूल हो।

जो फूल गमलों में सजे रहकर प्रदर्शनियों में इतराया करते हैं, वे खत्म हो जाते हैं किसी तुकबंदी की तरह। मगर तुम तो वसंत की रामायण हो, जिसे सदियों से गाँवों की चौपाल–चौपाल पर गाया जा रहा है।

ज़्यादातर फूल, सौरभ से सरोबार होते हैं, जिनमें गंध नहीं होती। उनमें रूप होता है, लेकिन तुममें न तो गंध है न रूप, सिर्फ अपने आत्मसम्मान के ओज की आभा है। मगर एक बात जो किसी दूसरे फूल में नहीं, वह तुममें है। तुम सूखने के बाद और जीवंत हो जाते हो। तुम्हारी पाँखुरी–पाँखुरी से केशरिया रंग झरता है। असंख्य होलियाँ और रंगपंचमियाँ तुम्हारे नाम हैं। ब्रज की वीथियाँ सदियों से तुम्हारे अमिट रंग की साक्षी हैं। अपने अस्तित्व को मिटाकर दुनिया को केशरिया रंग से रँग देने वाले तुम्हारे अनूठे व्यक्तित्व ने तुम्हें सदैव के लिए अमर कर दिया। तुम्हारे रंग से होली का ऐसा अनोखा त्योहार मनाया जाता है, जो छोटे–बड़े, अमीर–गरीब, ऊँच और नीच के सारे भेद मिटा देता है। इस दिन नेह की स्निग्धता में सारी मलिनता बह जाती है। तुम्हारे रंग में सरोबार होकर भले कुछ पलों के लिए ही सही लोग सारी है कटुता, सारा वैषम्य, सारा द्वेष भुला बैठते हैं। ऐसा रंग किसी दूसरे फूल में नहीं होता। तुम्हारे इसी रंग ने तुम्हें अमर पहचान दे दी और तुम प्रीति के प्रतिनिधि पुष्प बन गए।

मैं बचपन से तुम्हें वसंत में देखता आ रहा हूँ। तुम्हारी प्रवृत्ति नहीं बदली। तुम वैसे ही हो आज भी; जैसे बरसों पहले थे, वरना बचपन से आज तक मैंने बहुत बदलाव देखे हैं। मैंने गुलाबों तक को अपना रंग बदलते देखा है। जैसे–जैसे वक़्त आगे बढ़ता गया, फूलों के रंग और आकार बदले।

हो सकता है कि यदि तुम भी अपना रंग बदल लेते तो उपवनों की शोभा बन जाते, सिर्फ वसंत में फूलने की बजाय बारहों माह फूलते; हो सकता था कि तुममें गंध भी आ जाती, लेकिन सच यह भी है कि फिर तुम्हारा नाता न तो ब्रज की वीथियों से रहता न वृषभानुसुता राधा से। फिर तुम्हारे नाम न कोई होली रहती, न वसंत पंचमी। तुम्हारा रंग भी भले केशरिया होता, मगर वह चढ़ता नहीं किसी पर। तुम्हारी पाँखुरियों की कोई पूछ नहीं होती। उपवनों में फूलते और झर जाते, इससे ज़्यादा कोई उपलब्धि नहीं होती। उपवनों में फूलने वालों को वास्तव में कुछ हासिल नहीं होता, बल्कि खो ज़्यादा जाता है। जंगलों के फूल भले अचीन्हें रहें, लेकिन वे कुछ खोते नहीं। उनकी पहचान बरकरार रही है। तुमने भले कुछ न पाया हो, मगर अपनी पहचान बनाए रखी है और इसी पहचान के कारण न तुमसे ब्रज छूटा न वृषभानुसुता।

तुम यदि अतीत के इस मधुर रिश्ते से अपने आपको काट लेते तो फिर न तो तुम्हें वर्तमान पूछता, न भविष्य। आज तुम अतीत की धरोहर, वर्तमान की पूजा और भविष्य की श्रद्धा के रूप में मनमानस में समाए तो हो।

वसंत में आम के बौर भी आ जाते हैं। आम्र मंजरियाँ जब आम के वृक्षों पर खिल उठती हैं, तब वसंत की शोभा दोगुनी हो उठती है। तुम्हारे पुष्प और आम की मंजरियों से ढकी पगडंडियों पर विचरण करना एक अद्‌भुत सुख से आत्मसात करना होता है। आम्र मंजरियाँ और तुम दोनों ही प्रहरी हो वसंत के, मगर तुम दोनों में फर्क़ भी है। आम्र की मंजरियाँ तो बाद में हरी कैरियों में, कच्चे आमों में बदल जाती हैं, लेकिन तुम तो अपना सर्वस्व ही वसंत पर न्यौछावर कर देते हो। तुम्हारी हर पाँखुरी सिर्फ वसंत के लिए ही खिलती और वसंत के लिए ही झर जाया करती है। तुमने वसंत के साथ अपने आपको इतना आत्मसात कर लिया कि कहीं कोई भिन्नता नहीं रही। तुम्हीं वसंत के अर्घ्य बन गए और तुम्हीं आचमन।

इस विषमता भरे, वैषम्य से भरपूर संसार में जब अपने इस समर्पण भाव से तुम्हें खिला देखता हूँ तो मन प्रणामों से भर उठता है। कितना मुखर है तुम्हारा मौन। यदि कोई तुम्हारे इस प्रेरणा भरे वैविध्य के सच्चे अर्थों में दर्शन करे तो वह धन्य हो उठे। इस विचित्र संसार में यही सबसे बड़ी कठिनाई है कि हम प्रेरणा के लिए या तो देवताओं की ओर देखते हैं या उन मनुष्यों की ओर, जिन्हें हमने देवता बना दिया। प्रेरणा के सच्चे स्रोत तो तुम्हारे जैसे गंधहीन, वनों और प्रांतरों में खिलने वाले वे फूल हैं, जिनकी कोई अपेक्षा नहीं होती, लेकिन जो अपनी समूची अस्मिता में प्रेरणा के पुंज होते हैं। मैं तो उस समय की राह देख रहा हूँ, जो तुम्हें पहचानेगा और तुम्हें तुम्हारे गुणों के अनुरूप सच्ची प्रतिष्ठा देगा।

इसलिए पलाश तुम फूलते रहो, जैसे इस बार फिर फूले, वैसे ही तुम सदैव फूलते रहना। मैं देख रहा हूँ आने वाली पीढ़ियों को, जिनके हाथ नमन की मुद्रा में जुड़े तुम्हारे कुसुमित होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

जो पीढ़ियाँ आने वाली हैं, वे वसंत को सच्चे अर्थों में पहचानेंगी, तुम्हें अपनी पूरी समग्रता में अंगीकार करेंगी। इसलिए तुम फूलना और फिर फूलते ही रहना पलाश।

गुलमोहर गर्मियों के

बहुत तपन है। सारे पेड़ झुलस रहे हैं, पत्तियाँ मुरझा गईं, हरे–भरे तने ढूँठ में बदल गए लेकिन गुलमोहर चटख लाल रंग में खिल रहा है। इस वैशाख की अलाव–सी सुलगती दुपहरी में जब गुलमोहर के पेड़ पर नज़र पड़ती है तो जाने क्यों यह मुरझाया मन मुस्कराने लगता है। खिले गुलमोहर को देखकर लगता है कि हाँ अभी जीवन–शक्ति जीवित है, संघर्ष की तपन में खिलने की क्षमता जीवित है, एक दीपशिखा जीवित है बर्फ के घरौंदे में।

यों वसंत में तो हरिया जाते हैं सभी, खिल जाते हैं सभी मगर ग्रीष्म के आगमन के साथ सभी सूख जाते हैं, सिमट जाते हैं, मुरझा जाते हैं। मगर गुलमोहर गर्मी में खिलता है। गर्म लू के थपेड़े, सूरज का आक्रोश और इस आक्रोश से भयभीत अन्य फूलों की भीरुता उसकी जिजीविषा को नहीं डिगा पाती। वह अकेला खिलता है, उसका कोई साथ नहीं देता, न गुलाब, न चमेली, न जूही, न गेंदा मगर वह अपने संकल्प से डिगता नहीं। वह सूरजमुखी के फूल की तरह अवसरवादी भी नहीं कि सूरज की ओर अपना माथा नवाए सूरज की दिशा के साथ–साथ अपनी दिशा भी बदलता रहे। उसकी दिशाएँ उसके खुद अपने मन की होती हैं। गर्मी ज्यों–ज्यों बढ़ती है उसकी सुर्खी भी बढ़ती जाती है। जिन्हें हम लू के थपेड़े कहते हैं वे उसके लिए सुहावनी बयार के मृदु झोंके हैं, जिसे हम झुलसना समझते हैं वह उसके लिए मुस्कराना है।

गर्मी ने गुलमोहर की गंध छीन ली, उसकी पाँखुरियों की नमी छीन ली मगर उसकी दमकती कांति को नहीं छीन सकी। प्रतिशोध की आग चाहे जितनी प्रबल हो वह सब कुछ भस्म कर सकती है लेकिन दहकते अंगारे और राख तो फिर भी बने रहेंगे अपने अस्तित्व में।

दहकते सूरज के आक्रोश की यों खिल्ली उड़ाने वाला गुलमोहर मौन हो भले मगर उसका यह मौन बहुत मुखर होता है। बिना कंठ के उसका निनाद गूँजता है। गर्मियों में गुलमोहर को निहारते हुए निकल जाना कोई मायने नहीं रखता। उसके तले खड़े होकर उसके संघर्ष के सुरों को सुनना चाहिए। इन सुरों की गूँज हमारी मुरझाने की वृत्ति के बंधनों को काट देगी और हम जूझने के लिए कृत संकल्प हो उठेंगे।

आज कहाँ नहीं है आग, कहाँ नहीं है दहकते सूरज और कहाँ नहीं हैं लू के थपेड़े। हर जगह हैं, हर स्तर पर हैं, हर परिवेश में हैं। मगर गुलमोहर नहीं हैं हर जगह। इसलिए तपन हमें झुलसा जाती है। यदि हम अपने आप में वह संघर्ष क्षमता सँजो लें जो गुलमोहर ने सँजोई है तो एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब तपन अपनी निरर्थकता समझ ले। गुलमोहर की तरह बिना मुरझाए यदि हम अपनी कांति बरकरार रख सकें और जूझते रहें लू के थपेड़ों से तो बहुत मुमकिन है कि गर्मी हम पर हावी न हो।

मगर ऐसा होता नहीं। गर्मी के खत्म होते ही हम शीतलता की तलाश में निकल पड़ते हैं। कोई पहाड़ पर जाता है, कोई कश्मीर, जो जा नहीं पाते वे कूलर, एयरकंडीशन और तेज़

ठंडी हवा फेंकने वाले पंखों की तलाश करने लगते हैं। दोपहर आती है तो इन्हीं के आश्रयों में गर्मी से भयभीत हो दुबक जाते हैं। इसी पलायनवादी रवैये ने गर्मियों के हौंसले बढ़ा दिए और तपन हावी हो गई। इसके लिए हम खुद ज़िम्मेदार हैं। दोषी हम खुद हैं जो गर्मी के भय से दुबक जाते हैं, उसकी आँच से डरते हैं, ठंडक के कृत्रिम आश्रय खोजते हैं और पर्यावरण के असंतुलन का विश्लेषण करते हुए सूरज को दोषी ठहराने लगते हैं।

हमने वन काट दिए और पर्यावरण के विभाग खोल लिये, सूरज को खुद उकसा दिया और अपने लिए डी–लक्स ए.सी. रूम की व्यवस्था कर ली।

वैशाख या जेठ की तपती दोपहर में खेत जोतते किसान को सूरज से कोई शिकायत नहीं मगर ए.सी. रूम में बैठकर सूरज को कोसना हमारी आदत हो गई।

बड़ी मजेदार बात तो यह है कि पीढ़ी दर पीढ़ी किसान तो ज्यों का त्यों रहा मगर सूरज को कोसने वाले एयर कंडीशनर और कूलर के कारखाने खोल–खोलकर करोड़पति हो गए।

जैसे–जैसे गर्मी बढ़ती जाती है, उसे कोसने वाले बढ़ते हैं और इन कोसने वालों की सम्पन्नता बढ़ती है। एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया है समाज में जो कोसने वालों का ही है। यह अकेला गर्मी को ही नहीं कोसता, ठंड और बरसात को भी कोसता है। यह वर्ग इन मौसमों की बुराइयों से जूझने के लिए लोगों को प्रेरित नहीं करता बल्कि बचाव के लिए रास्ते सुझाता है। इसलिए इन मौसमों के अभिमान कायम रहते हैं और बजाय जूझने के समाज दीन बना इन मौसमों की बुराइयों को झेलने के लिए विवश बना रहता है। इस कोसक वर्ग को 'जो वास्तव में शोषक वर्ग है', हर ऋतु सम्पन्न बनाती जाती है। एक गोपन समझौता है इस वर्ग और मौसमों के बीच।

एक नियति बन गई है और उस नियति को झेलना विवशता। विवशता के बंधन टूटते नहीं और ग्रीष्म का अत्याचार बढ़ता जाता है। पानी चाहे सरोवर का हो, ज़मीन के गर्भ का या सम्मान का, सूखता चला जाता है। धरती पर पड़ी दरारें गहराती जाती हैं, जंगल आग के हवाले होते रहते हैं, पहाड़ तपते रहते हैं और आदमी अंदर ही अंदर धधकता रहता है, सुलगता रहता है मगर इस नियति की विवशता को तोड़ने कोई आगे नहीं आता।

प्यास बहुत लगी है, वह बुझ ही नहीं पाती। कालिदास ने 'ऋतुसंहार' के ग्रीष्म वर्णन में, मृगों की हालत का चित्र खींचते हुए लिखा था : "इस ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की प्रचंड धूप से अत्यंत तपाए गए मृग, जिनके तालू अति प्यास के कारण सूख गए हैं, एक वन से दूसरे वन में अंजन के समान नीले आसमान को जल समझ कर दौड़ रहे हैं।"

बहुत फर्क़ नहीं आया इस चित्रण में। कालिदास यदि आज होते तो उनकी इस कल्पना में 'मृग' का स्थान 'आदमी' ने ले लिया होता। गरमी में नीला आसमान ही जल जैसा दीखता है और हर आदमी दौड़ रहा है इस छलावे भरे पानी को पाने के लिए।

गर्मी से उपजी प्यास तो बुझ सकती है मगर तृष्णा से उपजी प्यास इतना विकल बना देती है कि आदमी नीले आसमान को भी सरोवर समझ बैठता है। न प्यास बुझ पाती है, न सरोवर मिल पाते हैं और यह दौड़ निरंतर और अविराम चलती रहती है। यह सारे विश्लेषण अनंत हैं। सच सिर्फ यही है कि ग्रीष्म, ग्रीष्म है और हमारे विश्लेषण हमारे विश्लेषण।

मगर सच यह भी है कि अगर हम मानव हैं तो हमें विश्लेषण भी स्वीकारने नहीं हैं, सिर्फ यदि विवशता ही स्वीकार ली तो फिर मानवता और पशुता में क्या भेद ?

विवशता को अस्वीकार कर देना, हमारी पहली सफलता होगी। सूखी पाँखुरियों वाले लेकिन लू के थपेड़ों के बीच अपनी मस्ती में डोलते गुलमोहर से यदि एक ही सीख ले ली जाए तो बदलाव के लिए किसी वाद या दर्शन की शरण में जाने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी।

ज़रा गुलमोहर की तरफ ताकने की बजाय गुलमोहर बनकर तो देखें।

एक भोर जुगनू की

मैं अक्सर देहली जाता हूँ। वहाँ से लौटते समय मथुरा के आगे एक स्टेशन पड़ता है 'रुनकता'। यह सूर का गाँव है। सूर यहीं जन्मे थे। सुपर फास्ट ट्रेन में बैठे–बैठे इस स्टेशन के नाम की तख्ती पलक झपकते गुज़र जाती है लेकिन मन वहीं अटक जाता है। विचार भटक जाते हैं।

कैसा चमत्कारिक होगा वह गाँव 'रुनकता' जहाँ ऐसा अंधत्व जन्मा जिसने आलोक को अमर कर दिया, जिसने तिमिर के आवरण में छुपे शब्दों को उजास के तारों में बींधकर, छंदों के अनेक सूरज उगाए और श्याम को ऐसा देखा एक बार कि हम सब आज उसी श्याम को सूर के पहनाए परिधानों में उन्हीं की आँखों से देख रहे हैं।

हमारी आँखें सूर की आँखें हो गई और उनमें बसे श्याम हमारे श्याम।

अंधत्व की सबसे बड़ी विडम्बना यही है कि वह सूर का पर्याय बन गया। कैसे हो सकते हैं वे लोचन दृष्टिहीन जिन्होंने साक्षात श्याम को इस मनमोहक रूप में देखा होगा।

खेलन हरि निकले ब्रज होरी,

कटि क़दनी, पिताम्बर ओढ़े हाथ लिए भौंरा चक डोरी,

मोर मुकुट कुंडल स्रवनन कर बर दसन दमक दामिनी छवि चोरी।

लेकिन यह विडम्बना आज अकेले सूर की कहाँ है ? हम सबकी है। जो हम हैं, उसके विलोम ही समझ लिये जाते हैं पर्याय नहीं। जो द्रष्टा हैं वे दृष्टिहीन हैं और जो अपना रास्ता नहीं टटोल पाते वे मार्गदर्शक।

हमारा इतिहास नियति की इन्हीं विडम्बनाओं का आईना है। इतिहास के दर्पण में कभी–कभी हमारे प्रतिबिम्ब वैसे ही झलकते हैं जैसे अक्षरों के, दर्पण के सामने कोई इबारत रख दो तो वह उल्टी ही दीखती है। उसे प्रतिबिम्ब में पढ़ पाना असम्भव सा होता है। इसलिए सूर ने चाहे जितना जीवंत लिखा हो माने गए वे अंधे ही और सूर अंधत्व का पर्याय बन गए। इसमें सूर का दोष नहीं। दोषी आँखें हैं और आलोक। आँखें उजाले से सिर्फ अपने स्वार्थ का सरोकार रखती हैं और आलोक अपने आपको अपराजेय मानता है।

लेकिन आलोक का यह दम्भ हमारे इतिहास के दो अपवाद चरित्रों ने तोड़ा है। ये हैं सूर और गांधारी। एक की आँखों ने उसे अंगीकार ही नहीं किया और दूसरे की आँखों ने किया सीधा अस्वीकार।

सूर और गांधारी प्रकाश की पराजय के नाम हैं।

सूरज के रथ का सारथी सूर के सामने असहाय है और उसके चक्र विजयी अश्व विवश।

सूर्य के आलोक का मोह सूर ने पाला ही नहीं, ऐसे मोह को त्याग देना उनके व्यक्तित्व के नहीं, चरित्र की ऊँचाई है ! इन ऊँचाइयों को मापने के पैमाने शायद अभी तक बन नहीं पाए। इसलिए हम अभी भी हर अंधे को सूरदास कहकर पुकारते हैं। शायद यह सूर का नहीं, हमारा अंधत्व है।

सवाल यह है कि इस आलोक का इतना आकर्षण क्यों है? क्या इसलिए कि इसकी उजास हमें सृष्टि का सौंदर्य दिखाती है ? शायद सूर को छोड़कर सभी ने यही जवाब दिया है।

लेकिन सूर ने तो सृष्टि को इतनी समग्रता और सूक्ष्मता में देखा है जिसके सामने सौंदर्य के सारे प्रतिमान बौने पड़ जाते हैं।

सही शायद यह है कि सूर्य के आलोक की निरंतरता, उसका तेज़, उसके रश्मि पुंज और उसका फैलाव हमें आकृष्ट करते हैं। आकर्षण की यही प्रबलता खींचती है मन को और मन इसकी दीप्ति से कभी तृप्त ही नहीं होता।

इस दीप्ति के कई नाम हैं। धन, यश, पद, महत्त्वाकांक्षा और लिप्साएँ कई तरह की।

हम इन्हीं दीप्तियों के बीच अपने जीवन की छटा खोकर विलीन हो जाते हैं। लेकिन दीप्ति के ये रूप कभी विलीन नहीं होते। इसका रूपजाल अटूट होता है और बंधन कठोर। पीढ़ी दर पीढ़ी असंख्य जीवन ज्योतियाँ इस भ्रमपुंज में समाहित होती चली जाती हैं, लेकिन इस दीप्ति को अंगीकार न करने वाले सूर कभी विलीन नहीं होते क्योंकि इस उजास से उनकी आँखों का कोई रिश्ता नहीं। उनकी आँखें वे देखती हैं जो इस उजाले में देखा नहीं जा सकता। वे इस आलोक की निरंतरता, तेज़ और फैलाव के बंधनों से बहुत परे हैं। इसलिए 'रुनकता' किसी अंधे सूर का गाँव नहीं, ऐसी भोर का क्षितिज है जहाँ से एक अनोखे आलोक के एक नहीं कई सूरज जन्में हैं जिनकी चिरंतन नियति सिर्फ भोर है। ऐसी भोर जिसे संध्या की लालिमा या अस्ताचल की दिशा के बंधन कभी बाँध नहीं सके। सूर की आँखों में बसा आलोक सूर्य के आलोक से कहीं अधिक ज्योर्तिमय है।

तब ऐसा कौन–सा आलोक है जिसने सूर के नयन जगमगाए, जिसने उनकी आँखों के भौतिक अंधत्व को पराजित किया, जिसने सूरज के आलोक को ललकारा, उसे चुनौती दी और उसकी जययात्रा को खंडित कर दिया।

रहा होगा ऐसा आलोक सूर के पास जो सिर्फ उनकी ही निधि रहा। समाया रहा उन्हीं में और उन्हीं में विलीन हो गया। इस आलोक की न तो निरंतरता रही होगी, न फैलाव, न किरण पुंज और न ही अपने विलुप्त होने का भय।

वह उजास ऐसी रही होगी जो भले निरंतर न रही हो पर कभी–कभी चमकी होगी। फैली भी नहीं होगी उन नयनों की परिधि के बाहर और विलुप्त भी नहीं हुई होगी लम्बे अन्तराल के लिए।

उसने हौले से चमककर कभी आँगन में खेलते 'हरि' को देखा होगा, कभी ग्वालों के साथ गाय चराते, होली खेलते, गोपियों के साथ रास रचाते कान्हा को, कभी दही मथती यशोदा को और कभी कालिंदी के तीर पर लजाती लाजवंती राधा को। ब्रज के कुंज और मथुरा की गलियों को इसी उजास में निरख लिया होगा।

सूर के अंधे नयनों में बसा यही आलोक सूर का सागर है, जिसकी नीली सतह सूरज के प्रकाश से नहीं, किन्हीं जुगनुओं की क्षण भर चमककर लीन हो जाने वाली और पल–भर बाद फिर चमक जाने वाली ज्योति से झिलमिलाती है। इसकी सतह पर किरणों के लम्बे जहाज़ नहीं डोलते, छोटे–छोटे दीपों की नौकाएँ तैरती हैं। सूर की आँखों में समाया यह आलोक उन जुगनुओं का है जिनकी हर क्षणिक चमक से कान्हा की एक लीला और राधा की एक भंगिमा जन्मी। जुगनुओं की इसी चमक से वात्सल्य का रस जन्मा, प्रीत की रीत जन्मी, प्रणय के गीत जन्मे और भक्ति का ऐसा अद्‌भुत संगीत जन्मा जिसने समूचे युग को विभोर कर दिया।

आलोक और अनुगूंज के इस संगम के स्रष्टा सिर्फ सूर ही हो सकते थे, जिन्हें हमने द्रष्टा न मानकर दृष्टिहीन माना और खुद अपने अंधत्व को उजागर कर दिया।

सूरज और जुगनू दोनों ही प्रकाश के स्रोत हैं लेकिन अपनी प्रकृति में पूर्णतः भिन्न। कहाँ अथाह सागर और कहाँ किसी नन्हीं–सी कोंपल पर ठहरे, सिमटे जल बिंदु। लेकिन इन दोनों के आलोक में एक मूलभूत अंतर है और वह है अंधकार का अंतराल।

सूरज को रोज़ डूबकर फिर उगना पड़ता है लेकिन जुगनू जिनकी रौशनी क्षणिक होती है, अपने अस्तित्व में स्थायी होते हैं। वे मरते तक चमकते रहते हैं। उन्हें रोज़ डूबकर फिर उगना नहीं पड़ता, इसलिए वे जब–जब भी चमकते हैं अपनी पूरी जीवंतता के साथ क्योंकि उन्हें डूबने का भय नहीं होता।

नियमित मरण उनकी नियति नहीं होती।

उजास की ये तैरती लड़ियाँ सौंदर्य की कल्पना के हर मोती को अपने में पिरो लेती हैं। सूरज का रोज़ उगना और प्रकाश देना हमें कोई सौंदर्य–बोध नहीं देता, कोई कल्पना नहीं देता, संकल्प नहीं देता देता है तो सिर्फ उसके आलोक में जीने की आदत जो हमारी विवशता है और विवशता में न तो श्याम के पीताम्बर बुने जा सकते हैं, न तट पर बाट जोहती राधा की छवि।

इसलिए सूर की आँखों में बसा आलोक ऐसे जुगनुओं का आलोक है जो उनके जीवन–भर बस उन्हीं की आँखों में चमककर कृष्ण और राधा की भंगिमाओं को, शब्दों के मोतियों में गूँथता रहा, गूँजता भी रहा और जो बिना डूबे उन्हीं की आँखों से जन्म कर उन्हीं में समा गया। ऐसे जुगनुओं के चरणों पर असंख्य सूर्यों के शीश न्यौछावर हैं। मुझे अँधेरी रात

में किसी वृक्ष के आसपास चमकते हर जुगनू में ऐसी भोर दीखती है जिसकी कोई साँझ नहीं होती।

फिर पत्थरों के गाँव

पत्थर सिर्फ पत्थर होते हैं। निष्प्राण, कठोर, ठोकरों की छाँह और नफरत की निगाहों की तीखी किरणों के बीच अपने दिन काटने वाले उपेक्षित अस्तित्व।

यदि कभी कोई कलाकार अपनी छेनी से उन्हें ऐसा आकार दे भी दे कि वे किसी महल या मंदिर में प्रतिष्ठित हो सकें तो ऐसे अपवाद भले उसका रूप बदल दें लेकिन उनकी नियति फिर भी नहीं बदलती।

शिल्पहीन आकारों में वे पड़े रहते थे। कलाकार ने उन्हें खड़ा कर दिया। खड़े रहने या पड़े रहने में कोई मौलिक फर्क़ नहीं होता। सिर्फ पत्थर को देखने वाले की दृष्टि बदल जाया करती है। मगर देखने वाले की दृष्टि बदलने से पत्थर की नियति बदल जाए ऐसा नहीं होता।

यदि ऐसा होता तो ताजमहल के गुम्बज गाने लगते मगर वे तो रोते हैं। ताज को देखने वालों का कहना है कि अभी भी ताज के अंदर जाने कहाँ से कुछ पानी की बूँदें टपकती हैं। पानी की इन बूँदों को कोई चखे तो उनका स्वाद उसे खारा लगे।

ताज से सटी जमना में बहता पानी, ताज के सफेद पत्थरों की आँखों से बहा पानी है। यमनोत्री से इस पानी का कोई लेना–देना नहीं।

आँसू पीड़ा की अभिव्यक्ति होते हैं और पीड़ा मानव और पत्थर में कोई फर्क़ नहीं मानती। यह बात अलहदा है कि हम पत्थर की पीड़ा को नहीं जानते।

पत्थर की पीड़ा जानना आसान भी नहीं है। यह आसान हो सकता है कि पत्थरों में देवत्व तलाश लिया जाए। मुमताज़ की स्मृति खोज ली जाए या 'शालभंजिका' को उकेरकर खजुराहो या ग्यारसपुर में सौंदर्य की चरम परिणति को स्थायी आकार दे दिया जाए मगर बहुत मुश्किल है पत्थर की पीड़ा को समझ पाना। उसे समझने के लिए पहले खुद पत्थर बनना पड़ेगा। बगैर पत्थर बने पत्थर का मर्म नहीं जाना जा सकता।

राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध महामानव नहीं, महापाषाण थे। उन्होंने कोशिश की थी पत्थर के मर्म में झाँकने की। मानव की व्यक्त पीड़ा को समझ पाना बहुत सरल था, मगर अव्यक्त की पीड़ा को जान पाना बहुत कठिन। इन महापुरुषों के सामने चुनौती यही थी कि वे अव्यक्त की पीड़ा को समझते और फिर उस पीड़ा का अनुभव कर मानव मन की व्यक्त पीड़ा से उसकी तुलना करते। बगैर सागर में उतरे उन्हें पोखर की गहराई का पता लगता कैसे ?

उन्होंने इसी पीड़ा को समझने की कोशिश की। सागर की गहराई को माप लिया। फिर उन्हें देर ही नहीं लगी यह समझने में कि पोखर की गहराई से उबरा कैसे जाए ?

वे अव्यक्त की गहनता तक पहुँचकर यह खोज लाए कि व्यक्त की पीड़ा दूर कैसे हो ?

निष्प्राण पड़ी पाषाणी अहल्या, राम के पाँव की ठोकर से जब मानवी बनी तब उसे शायद यह मालूम ही न रहा हो कि यह ठोकर तो एक बड़े पाषाण की, एक छोटे पाषाण को लगी ठोकर है। यह न तो भगवान की ठोकर है न मानव की और जब राम का नाम पत्थरों पर लिख–लिखकर नल और नील सागर में उन्हें फेंकने लगे तो वे पत्थर सिर्फ बंधुत्व की मर्यादा में बँधे भारहीन होकर तैरे और अपने अग्रज की विजय के लिए उन्होंने अपने स्वभाव की मर्यादा तोड़ दी।

रामेश्वर से लंका तक बना पुल कोई दैवीय चमत्कार नहीं था, वह तो एक बड़े पूजनीय पाषाण के लिए छोटे–छोटे पाषाणों की कर्तव्यनिष्ठा और बंधुत्व की अभिव्यक्ति का बाँध था।

इतिहास की तो यही साक्षी है कि हम भले इन्हें भगवान कहें, महामानव कहें या महाप्राण लेकिन ये थे सिर्फ महापाषाण ही। इन्होंने जितना झेला वह मानव नहीं झेल सकता। सिर्फ पत्थर झेल सकता है।

इतना झेलने के बाद भी वे रोए नहीं, कभी आँखें नम भी हुई हों सीता को खोजते, ब्रज से बिछुड़ते, वैशाली के राजप्रासाद को त्यागते या राहुल और यशोधरा को सोते छोड़कर अपने 'कन्थक' नामक अश्व से यह कहते कि तात ! आज की रात तू मुझे तार दे क्योंकि इसके बाद तो मैं सारी दुनिया को तार देने वाला हूँ तो इन आँखों में समाए आँसुओं को पत्थर के आँसू ही कहना पड़ेगा क्योंकि इतनी मर्मांतक वेदना कोई मानवीय सम्वेदना झेल ही नहीं सकती।

सीता, राधा और यशोधरा के बिछोह को झेलना और फिर अपने आपको सारी समष्टि के लिए सौंपकर अपने सारे दायित्व निभाकर सरयू में समा जाना, अपने सुदर्शन को स्वर्ग भेजकर एक मामूली बहेलिए को ही अपना उद्धारक मानकर सूने पेड़ के तले अपनी इहलीला समाप्त कर लेना और अपने शिष्य आनंद की गोद में अंतिम साँसें लेते हुए बिना किसी दुविधा के निर्वाण को प्राप्त हो जाना, ऐसा जीते हुए मरण को वरण लेना ही मानवीय प्रकृति की सहनशीलता के सारे बंधन तोड़ देता है।

राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध ने यही बंधन तोड़े और पत्थर बनकर उसके मर्म को पा लिया।

आज कौन चाहेगा पत्थर बनना ? कोई नहीं चाहता कि उसे पत्थर बना दिया जाए। मगर आघातों की निरंतरता इतनी है कि सम्वेदना के रेशे–रेश बिखर गए, मूल्यों के मानक तक छितरा गए इधर–उधर, इतना पीटा आघातों ने कि सहिष्णुता की सहनशक्ति चुक गई।

तब शेष क्या रहा ? सिर्फ पाषाणी कंकाल जिस पर अब किसी आघात की कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। राम भी मानव से पाषाण बने थे लेकिन उनकी पाषाणी मौलिकता का कोई मुकाबला नहीं। इसलिए कि वे इन आघातों को झेलते रहे लेकिन ज्यों–ज्यों आघात तीव्र हुए उनका संघर्ष भी उतना ही प्रबल होता गया। वे मर्म के उतने ही निकट पहुँचते गए। वे जूझते रहे इन आघातों से और अंततः इन्हीं आघातों के बीच से उन्होंने इन पर विजय पा लेने का मार्ग खोज निकाला।

पाषाण राम भी थे और हम भी हैं अंतर सिर्फ संघर्ष–शक्ति के होने और न होने का है।

हमारी संघर्ष–शक्ति शून्य है। इन आघातों को हम अपनी नियति मान बैठे हैं इसलिए न चाहते हुए भी पत्थर बन जाना पड़ता है। सम्वेदना हो या मूल्य, वे बिखर जाते हैं और हमारी पाषाणी देह, हमारे मानव होने का भ्रम देती रहती है।

अयोध्या या गोकुल इसलिए जाने जाते हैं क्योंकि वहाँ ऐसे पाषाण जन्में जिन्होंने मूल्यों के महल खड़े किए। यही पाषाण इन महलों की नींव थे और ये ही शिखर। आज कहीं कोई अयोध्या नहीं, गोकुल नहीं, वैशाली नहीं मगर ऐसी असंख्य बस्तियाँ हैं जहाँ पाषाण खड़े हैं, पड़े हैं, जिनकी कोई अहमियत नहीं। वे चलते हैं, फिरते हैं, बोलते हैं, दिशा देने का अभिनय करते हैं लेकिन इन असंख्य बस्तियों में कहीं गोकुल नज़र नहीं आता, अयोध्या नहीं दीखती।

काश! अरबों के आँकड़े न होते और गिनती के नाम पर सिर्फ अंक ही होते पाँच–दस तो इन अंकों में गोकुल, अयोध्या, वैशाली और कपिलवस्तु को ही गिन लिया जाता। कोई ज़रूरत नहीं होती फिर ढेर सारे देशों के नाम गिनाने की, शहरों की संख्या जोड़ने की, मंदिर, मस्जिद या गिरजाघरों की स्थापना को लेकर लड़ने की।

पत्थर की एक और खासियत होती है, वह पिघलता नहीं। लोहा पिघल जाता है मगर पत्थर कभी नहीं पिघलता। इसलिए कि पिघलने से गुण बदल जाते हैं। जल प्रवाह बहुत चाहता है कि वह पत्थर को भी पानी बना ले लेकिन उन्हें इस प्रवाह की चोटों से रेत बनना मंजूर होता है, पानी बनना नहीं। वे चूर–चूर होकर नदी के किनारे बिखर जाएँगे, उसकी जलराशि में विलीन हो जाएँगे मगर उसके साथ उसके रूप में खुद को बदलकर बहेंगे नहीं।

यों बर्फ के टुकड़े भी होते हैं जो ठोस होते हैं, कठोर होते हैं, दूर से पत्थर होने का भ्रम देते हैं मगर वक़्त आने पर ये तपन नहीं सह पाते और पानी में तब्दील हो जाते हैं। ऐसे बर्फ के टुकड़ों की कृत्रिम कठोरता ने कभी–कभी बहुत छल किया है पत्थर की कठोरता के साथ। कई पत्थर बिखर गए रेत बनकर और बर्फ के टुकड़ों ने पिघलकर अपने–अपने सरोवर बना लिये, झीलें बना लीं और उनमें अपने लिए कमल खिला लिये।

पत्थर का दुर्भाग्य यह भी है कि वह कठोर होता है और कठोर तो वक़्त आने पर पानी भी हो जाता है। इस कठोरता में फर्क़ नहीं हो पाता। बर्फ की कृत्रिम कठोरता फायदा उठा ले

जाती है लेकिन पत्थर की कठोरता रेत बन जाना पसंद करती है, वह न झील बन पाती है न सरोवर। कमल या कुमुदिनी उसके भाग्य में नहीं होते।

बाज़ी उन्हीं के हाथ लगती है जो स्वार्थ से स्वरूप बदलने में निपुण होते हैं।

आज कोई पारखी नहीं बचे। कठोरता के पारखी भी नहीं। यदि पाषाण की कठोरता अवसरों ने सराही होती तो मर्म जैसी कोमल संज्ञा का पर्याय पाषाण होता। मगर अवसरों ने स्वार्थ का साथ दिया। जाने कब यह बात मानी जाएगी कि सबसे कोमल मर्म सिर्फ पत्थर के ही पास होता है।

मानवीय सम्वेदना और अनुभूति की समूची पराकाष्ठा पत्थरों में जीवित है। पत्थर के मंदिर हैं, पत्थर की मूरतें, पत्थर के गिरजा, पत्थर की मस्जिद, पत्थर की राधा, पत्थर के कृष्ण और पत्थरों के ही ताज, कोणार्क और खजुराहो। फिर भी पत्थर कठोर और निष्ठुर कहा जाता है।

क्या कोमल होने की कसौटी सिर्फ लचीला होना है ?

नहीं, यह कसौटी गलत है, हमारी सोच गलत है। सैकड़ों गवाहियाँ हैं इतिहास के पास जब इस लचीलेपन ने कोमलता की अस्मिता कुचल दी और प्राणवान होने के नाम पर कई ऐसे निष्ठुर प्राण इस धरती पर जन्में जिन्होंने समूची मानवता के ध्वंस पर अपनी महत्त्वाकांक्षा के महल खड़े करने चाहे।

धृतराष्ट्र के लचीलेपन ने महाभारत रच दिया, जयचंद और मीर जाफर जैसे लचीली निष्ठा वाले कापुरुषों ने इस देश को गुलामी की ज़ंजीरें दे दीं।

आज हाल यह है कि कहने को हम आज़ाद हो गए हों लेकिन यह लचीलापन हमारी मानसिकता में ऐसा समाया है कि आज़ादी हमारे लिए सिर्फ ऐसा हर्फ है जो 15 अगस्त के दिन हमारे आज़ाद होने की याद दिला जाता है और 16 अगस्त से हम फिर गुलाम हो जाते हैं।

यदि इस परिप्रेक्ष्य में पत्थर को देखें तो मालूम होगा कि पत्थर कोमल भले न हो मगर सच्चा मर्म तो उसी के पास है।

हम इस मर्म को यदि पा न सकें तो उसे टटोलने की कोशिश तो करें। मर्म का स्पर्श ही बहुत प्रेरक होगा। पत्थर बड़े मार्मिक हैं। उनके पास जाओ अपना दर्द लेकर तो वे इस दर्द से जुड़ी मुसीबतों से आगाह करेंगे।

पत्थरों की नियति की तरह उपेक्षा की तीखी धूप के बीच बैठे एक विस्मृत से कवि देवीप्रसाद "राही" की ये पंक्तियाँ हैं :

फिर पत्थरों के गाँव मेरा दर्द गया है
लगता है मुसीबत का समाचार मिलेगा
फिर कोई धुआँ पूरी घुटन लेके उठा है
लगता है मेरा गाँव कई बार जलेगा।

मेरे अधूरे बाज़ार पर

जहाँ शहर होते हैं, वहाँ बाज़ार भी होते हैं। बड़े शहरों में ये बाज़ार मार्केट कहलाते हैं, शॉपिंग कॉम्पलेक्स कहलाते हैं और गाँवों में हाट। शहर की आधुनिक माँ से पूछो, "आंटी विपिन कहाँ गया है ?" तो आंटी का जवाब होता है "बेटे जी.टी.बी. कॉम्पलेक्स तक गया है, एक डिस्को कैसेट लेने" और देहात की काकी से पूछो, "काकी रम्मू किते गयो ?" तो काकी कहती है, "हाटई तरपै गयो है भईया, मिरच खुट गई थी आतई होएगो"।

डिस्को की कैसेट से लेकर मिरची तक की उपलब्धता का एकमात्र स्रोत बाज़ार है। बाज़ार में सभी कुछ मिलता है, जिस्म से ज़मीन तक। सिर्फ खरीद–फरोख्त के लिए मुद्रा चाहिए।

मुद्रा पर्याप्त हो तो उससे भरतनाट्यम से लेकर कुचीपुड़ी तक की मुद्राएँ खरीदी जा सकती हैं। आज के बाज़ार में भाव करके भाव खरीदे जा सकते हैं।

भवानी भाई खुले आम गीत बेचते थे, "जी हाँ हुजूर मैं गीत बेचता हूँ / मैं किसिम–किसिम के तरह–तरह के गीत बेचता हूँ"। इस गीत फरोश ने गीत बेचकर वेदनाएँ खरीदीं।

जिस बाज़ार में उन्होंने गीत बेचे उस बाज़ार में गीत की यह क़ीमत थी। मेरे कस्बाई शहर में भी, उसके बीचों–बीच एक अनोखा बाज़ार है। शहर के इस बाज़ार को बीच में खड़ा घंटाघर दो भागों में बाँटता है। यह अनोखा इस मायने में है कि घंटाघर के दाईं ओर जो बाज़ार है उसकी दुकानों का शिल्प उन्नीसवीं शताब्दी का है जबकि बाईं ओर की दुकानों का वास्तु इक्कीसवीं सदी के आने वाले शिल्प की भूमिका बाँधता है। आधा बाज़ार बिलकुल पुराना है और आधा बिलकुल नया। बाज़ार के इस अभिनव स्वरूप को देखकर अजनबी ताज्जुब करते हैं और शहर वाले इसे अपनी उपलब्धि मानते हैं। यह बाज़ार किसी ऐसी नारी प्रतिमा की व्यंजना है जिसकी देह का आधा भाग देहाती नववधू की तरह नाभि तक पल्लू लटकाए और आधा हिस्सा मिनी स्कर्ट पहने किसी गौरांग बाला के सुघड़ रूप की याद दिलाता है। यह बाज़ार एक ऐसी देवी की याद दिलाता है जो ऐसी कुलीन नववधू रही हो जिसकी आधी देह, देहलीज़ से बाहर निकल गई और आधी अंदर रही। बाहर निकली आधी देह के हिस्से ने पाँवों से पायल उतार दी, बाल बॉब कट करा लिये लेकिन जो देह आधी अंदर रही उसका न पल्लू हट पाया न पायल।

अब हाल यह है कि दोनों तरफ की दुकानों पर एक–सी चीज़ें बिकती हैं, लेकिन दामों में फर्क़ होता है। नए बाज़ार की नई दुकानों से सामान खरीदने का गौरव अलग झलकता है। पुराने बाज़ार की दुकानों से सामान खरीदने वालों को हल्का और पिछड़ा समझा जाता है।

इस बाज़ार के आधे निर्माण ने बड़ा निर्मम आघात किया है, मेरे शहर पर। इस अधूरे निर्माण ने मन बाँट दिए, मानसिकताएँ बाँट दी, प्यार की अबाध बहती धारा के बीच ऐसी

चट्टान रख दी कि दो धाराएँ हो गई नेह की, जिनके पथ बदल गए। इस अधूरे निर्माण ने प्रेम से जन्मने वाले नैसर्गिक अधिकार छीन लिये, दृष्टि देकर उजास छीन ली, मोगरे की कलियों के गजरे से चोटियाँ गूंथकर किसी नवेली के हाथ से आईना छीन लिया, वाणी छीन ली, और ओठों को सिर्फ थरथराने के लिए छोड़ दिया।

अधूरे निर्माण के यही मतीजे होते हैं; अधूरा निर्माण हमारे अखंड प्रेम की अनुपम इमारत का पूर्ण विध्वंस होता है। इसलिए निर्माण या तो हो ही नहीं या हो तो एकनिष्ठ संकल्प के साथ, सम्पूर्ण हो अपनी पूरी उत्कृष्टता को साथ लिये। मेरे शहर का दो सदी पुराना घंटाघर इस विभाजन का मौन साक्षी है, लेकिन कुछ दिनों पहले आधी रात के बाद जब मैं उसके पास से गुज़र रहा था, मुझे उसके पत्थरों के बीच से सिसकियाँ सुनाई दीं।

इस घंटाघर की छाती के तले महात्मा गांधी की भी मूर्ति है। मुझे लगता है जब घंटाघर सिसकता होगा तो इस पाषाणी प्रतिमा की आँखों से भी दो–चार जलबिंदु ढलक जाते होंगे। गांधी बहुत कम रोए जीवन में लेकिन उनकी देह के अंत के बाद उनकी आत्मा के आँसू शायद ही कभी थम पाए हों।

गांधी की जो यह प्रतिमा आज खड़ी है वह नई है, घंटाघर जितनी पुरानी नहीं है। पुरानी प्रतिमा के साथ एक दुर्घटना घट चुकी है। गांधी जयंती पर भक्तों ने एक बार उन्हें माल्यार्पण किया। इस माल्यार्पण के मौके पर उनके तीन–चार भक्त श्रद्धा के अतिरेक में इस ऊँची प्रतिमा के कंधों पर एक साथ चढ़ गए और पूज्य बापू के गले में माला डालने का प्रयास करने लगे। जब ये भक्त सामूहिक रूप से उनके कंधों पर पहुँच गए तब वहाँ इस बात को लेकर हाथापाई होने लगी कि माला पहले कौन पहनाएगा ? इसी बीच बापू अपने प्रति दर्शाए गए इस आदर भाव से इतने आतंकित हुए कि वे सीधे ज़मीन पर आ गए। प्रतिमा खंडित हो गई। उसके संगमरमरी टुकड़े सड़क पर बिखर गए। हमारी आस्था खंडित मूर्ति को पूज्य नहीं मानती इसलिए वहाँ नई गांधी प्रतिमा प्रतिष्ठित कर दी गई।

यों तो गांधी को हमने जीते जी खंडित कर दिया था और यह भी कहा जा सकता है कि गोडसे ने सिर्फ एक औपचारिकता निभाई थी लेकिन गांधी को मारकर उनकी मूर्ति सँजोना हमारी विवशता है और इस विवशता के कई कारण हैं। उनकी मानवीय सम्वेदना, धार्मिक समभाव, सत्य और अहिंसा के मूल्य, प्रेम, करुणा और आस्था के स्निग्ध भावों के प्रति निष्काम समर्पण और उसके अलावा भी ऐसा बहुत कुछ जो सारे वादों से हटकर समूची मानवता की अमर धरोहर है। विवशता इसलिए है क्योंकि जो कुछ भी गांधी के पास था उसे हम अपना नहीं सकते लेकिन भुनाना ज़रूर चाहते हैं और इसीलिए गांधी आज हमारी आस्था में कहीं नहीं हैं लेकिन आकारों में ज़रूर हैं और इन आकारों को छोड़ पाना बहुत मुश्किल है हमारे लिए क्योंकि जैसा भी हो हमारी अस्मिता, वह इन्हीं आकारों के बीच सुरक्षित है।

ज्यों–ज्यों गांधी के प्रति हमारी निष्ठा ढलने लगती है त्यों–त्यों गांधी के पाषाणी आकार और तेज़ी से ढाले जाने लगते हैं। पत्थर की यही क़ीमत है। यों तो वह किसी काम का नहीं

होता लेकिन ज़रूरत पड़ने पर हमारे छद्म को छिपाने की ढाल बन जाता है। देश के अनगिनत चौराहों पर लगी गांधी प्रतिमाएँ हमारे छद्म को छुपाए मौन खड़ी हैं। मिट्टी और पत्थर का सबसे बड़ा मूल्य उनका मौन होना है।

मेरे शहर के आधे निर्मित बाज़ार की तरह गांधी की भी नियति रही। उनका अधूरा व्यवहारीकरण हुआ। खादी की धोती और टोपी के प्रतीकों का व्यवहारीकरण हो गया लेकिन उनके दर्शन के तत्त्व वहीं रह गए। तत्त्व पर टोपी हावी हो गई। हाल यह है कि जो उनके दर्शन को समग्रता में व्यवहृत करना चाहते हैं उनकी बड़ी दुर्गति होती है, और कोई इस दुर्गति को भुगतने के लिए तैयार नहीं है। परिणाम यह है कि सच्चा गांधी भले एक न हो लेकिन सच्चे गोडसे असंख्य हैं।

इस अधूरेपन की वजह से हमारे देश के बाज़ार और हाट इन दिनों बड़ी गर्दिश से गुज़र रहे हैं। छोटे शहरों के बाज़ारों का अधूरापन तो दीख पड़ जाता है लेकिन महानगरों के बाज़ारों का अधूरापन दीखता नहीं, उसकी अनुभूति ज़रूर हो जाती है। इन बाज़ारों में दुकानें सजी हैं, चमचमाते बोर्ड लगे हैं, रौशनी इतनी है कि दिन और रात का फर्क़ समझ में नहीं आता, लेकिन क्वालिटी का फर्क़ समझ में आता है, साफ लगता है कि जो बेचा जा रहा है उसकी क्वालिटी बहुत घटिया है, उसमें मिलावट है, छल है। खोटा बड़े नाज़ से कहता है :

"खोट होते हुए भी नगद दाम पर
रौशनी में बिका और क्या चाहिए ?"

और खरा या तो वह है ही नहीं या जिस दुकान पर है उसके बंद होने की नौबतें हैं। अधूरे बाज़ार की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उसे खोटी चीज़ बेचना लाज़िमी है, भले रौशनी पर कितना ही खर्च हो। माल की क्वालिटी को सुधारने के या खरे माल को ईमानदारी के साथ बेचने के उसके संस्कार ही नहीं हैं, क्योंकि उसे भय है कि खरा माल ज़्यादा दिन चलेगा तो कहीं दुकान की बिक्री पर फर्क़ न पड़े। आजकल कम बिक्री करने वाली दुकान की कोई अहमियत नहीं, भले वह खरा माल बेचे। इसलिए आज बाज़ारों में माल खोटा और रौशनी खरी बिकती है।

आज बाज़ारों में मूल्य खरीदे और बेचे जाते हैं, मूल्य से चीज़ें खरीदी, बेची नहीं जातीं। इसलिए अब वे दुकानदार भी नहीं रह गए मार्केट में जो मूल्यों की परख जानते थे। वे बाहर कर दिए गए मार्केट से क्योंकि वे आधुनिक दुकानदारी के गुर नहीं जानते थे। दुकानें उनकी सज गईं जिन्हें सपने में भी दुकानें सजाने का गुमान नहीं रहा होगा। बकौल दुष्यंत :

"दुकानदार तो मेले में लुट गए यारो,
तमाशबीन दुकानें लगा के बैठ गए।"

राजनीति हो, समाज हो, संस्कृति हो या व्यवस्था, हर क्षेत्र के बाज़ारों की यही हालत है। इन हालात पर पश्चाताप करके दशक पर दशक बीतते जाते हैं लेकिन हालात सुधरते

नहीं। वे सुधरेंगे भी नहीं क्योंकि पश्चाताप में सिर्फ आँसू होते हैं, आग नहीं होती और यदि आग होती भी है तो वह सिर्फ खुद को पिघलाती है, हालातों को नहीं। पश्चाताप की अग्नि, उसके आँसुओं की किस्म से कुछ ज़्यादा नहीं होती।

इसलिए इन बाज़ारों को बदलना ज़रूरी है। उन्हें नए साँचों में ढालना ज़रूरी है उनका पूरा निर्माण करना आवश्यक है और यह ज़्यादा आवश्यक है कि वे अधूरे बनाकर न छोड़ दिए जाएँ। उनका अधूरा निर्माण उनके वर्तमान अस्तित्व से ज़्यादा खतरनाक होगा।

मेरी यह सबसे बड़ी आकांक्षा है कि अब जब कभी मैं रात के बारह बजे के आसपास सन्नाटे भरी रात में अपने कस्बाई शहर के बीचों–बीच बाज़ार में खड़े घंटाघर के पास से गुज़रूँ तो मुझे उसके पत्थरों के बीच से बजाय सिसकियों के संगीत सुनाई दे और उसकी छाती के तले खड़ी गांधी की प्रतिमा के ओठों पर मुस्कान की अठखेलियाँ दीख पड़ें।

मैं समझ लूँगा, मेरा बाज़ार अब अधूरा नहीं रहा। उसका निर्माण पूरा हो गया है।

मोम–नदी के तट से

यह मोम भी क्या बनाया है आदमी ने कि पिघलता है आँच से और फिर आँच से दूर होते ही जम जाता है। इतना मुलायम है, चिकना है कि उसकी फिसलन पर कुछ टिकता नहीं। इसके मुलायमपन की मिसालें दी जाती हैं। लेकिन मोम की क्या यह ख़ासियत, ख़ासियत है ? नहीं, मोम तो भरम का पर्याय है। मोम पारदर्शी नहीं है। वह छुपाता है अपना सब कुछ। उसके आर–पार कुछ नहीं दीखता। वह ठोस रह नहीं पाता, ज़रा–सी आँच के सामने पिघल जाता है और आँच के दूर होते ही फिर जम जाता है। बर्फ़ और मोम की तासीर एक–जैसी है– ज़रा–सी आँच के सामने दोनों पिघल जाते हैं।

मोम की ईजाद उन इन्सानों ने की होगी जो सिर्फ अपने लिए रौशनी चाहते होंगे। जिन इन्सानों ने दूसरे के लिए रौशनी चाही वे तो खुद जले। उन्होंने मोम की ईजाद में समय नहीं गँवाया। मोम का आविष्कार तदर्थ रोशनी के लिए कर लिया गया है; और भले ही उसकी उपयोगिता सिद्ध हुई हो लेकिन यह उपयोगिता बड़ी क्षणिक रहती आई है। मोम को बनानेवालों को यह कल्पना ही नहीं रही होगी कि इन ख़ासियतों को आगे की सदियों का आदमी अपने चरित्र और आचरण में ढाल लेगा।

आज हालात यह कि लोहा पिघल रहा है और जमाई हुई मोम के पुतले समाज के सूत्रधार हैं, हमारी नियति के कर्णधार हैं। लोहे को मोम बनाया जा रहा है, और मोम को लोहे का रूप देने की कोशिशें हो रही हैं। सब–कुछ मोमबत्ती की मानिन्द जलते–जलते पिघल रहा है, जम रहा है, फिर थोड़ी आँच मिलते ही पिघल रहा है। आदमी, आदमी जैसा समझ नहीं आता, ज़रा–सी आँच उसके स्वरूप को बदल जाती है, दृष्टि को बदल जाती है।

आँच, आँच होती है जिसका दायित्व ही है पिघला देना, फिर वह चाहे लोहा हो या मोम; आँच के समाने दोनों पिघलते हैं लेकिन लोहा आँच के पौरुष की परीक्षा लेता है, आँच को अपना समूचा अस्तित्व दाँव पर लगा देना होता है तब लोहा पिघलता है। लेकिन मोम ! वह तो आँच को देखते ही पिघल जाता है। और फिर पत्थर ? उसे भले ही महत्व न दें लेकिन वह किसी आँच में नहीं पिघलता। आँच के पौरुष को पत्थर की जिजीविषा से पराजित होना पड़ता है। तो फिर आदमी कैसा हो। मोम जैसा, इस्पात जैसा या पत्थर जैसा ? कुछ भी हो, लेकिन आदमी को मोम तो नहीं होना चाहिए। मोम के पुतलों से पत्थर की मूरतें भली ! पत्थरों के तराशे शिल्प को पूजने की परम्परा शायद उसकी इसी दृढ़ता को देखकर फली – फूली होगी, क्योंकि पत्थर किसी आँच के सामने पिघलते नहीं; तड़क सकते हैं, पिघल नहीं सकते। हमारे पूर्वजों ने पत्थर की मूरतें इसीलिए पूजीं, वर्ना हमारे यहाँ मोम की मूर्तियों पर अक्षत चढ़ते, उनकी वंदना होती।

इन्सान जब तक मोम का पुतला रहेगा, वह सब कुछ पिघल–पिघलकर लुप्त होता जाएगा जो इन्सान को इन्सान बनाता है। आज तो नगर के नगर मोम के हैं जहाँ मोम के पुतले चलते हैं और मूल्य मोमबत्ती की तरह पिघल–पिघलकर लुप्त हो जाते हैं। नगर तो

पाषाण के ही होने चाहिए, सड़कों पर पाषाणी मनुष्य ही चलने चाहिए। प्रतिमाएँ मोम की नहीं ढलें, उन्हें तो पत्थरों से ही तराशा जाना चाहिए। ढल जाना एक पराजित क्रिया का नाम है और तराशा जाना परिमार्जित का पर्याय। तराशने के पीछे खोज है, दृष्टि है, श्रम है, जबकि ढलने के पीछे सिर्फ एक यांत्रिक सोचहीन, कल्पनाहीन प्रक्रिया।

कहा जा सकता है कि मनुष्य पाषाणी क्यों हो ? पत्थर में सिर्फ कठोरता होती है, दृढ़ता होती है लेकिन कोई संवेदना नहीं होती तो फिर मनुष्य पाषाणी क्यों बने? सच है, लेकिन ऐसे प्राणवान मनुष्य किस काम के जो यूँ तो संवेदनशील कहलाएँ लेकिन पल–पल पर मोम की तरह अपना स्वरूप बदलें, ज़रा–सी आँच के सामने पिघल जाएँ और सिर्फ इसीलिए महत्वपूर्ण बने रहें क्योंकि उनमें प्राण बसते हैं ? इतिहास ऐसे जाने कितने प्राणवानों के शव ढोता रहा है, और इतिहास की पुस्तकें ऐसे प्राणवानों की शवयात्राओं की दस्तावेज़ बन गई हैं। प्राणवानों के शवों को ढोने से बेहतर है कि दृढ़ निष्प्राणों से प्रेरणा ली जाए। मनुष्य प्राणवान बना रहकर भी पत्थर–सा दृढ़ संकल्पवाला हो सकता है, उसमें तराशे जाने की संभावनाएँ हो सकती हैं। पाषाणी मनुष्य का मतलब निष्प्राण मानव नहीं है। पाषाणी का अर्थ एक दृढ़ संकल्प वाला ऐसा मनुष्य है जिसे अपने अस्तित्व को किसी आँच के सामने पिघलने नहीं देना है। इन अर्थों में सीता का चरित्र एक ऐसा पाषाणी चरित्र है जिसने प्रमाणित किया है कि आँच के भीतर से गुजरकर भी मनुष्यता के उन मूल्यों का अस्तित्व बनाए रखा जा सकता है जिनके कारण संवेदना के मायने संवेदना है, प्राण के मायने प्राण हैं, और जगत् के दूसरे जीवों से भिन्न एक मनुष्य भी है जो अपना सब–कुछ दूसरों के लिए तज दे, अपना सब कुछ त्याग दे, जिस धरती से पैदा हो उसी में समा जाए, लेकिन मनुष्यता को जीवित रखे। राम भले मर्यादा पुरुषोत्तम रहे हों, लेकिन सच्ची और आदर्श मानवी सीता थीं। राम तो झूठे लांछनों की आँच में पिघल गए, लेकिन सीता ने हर आँच का सामना ही नहीं किया बल्कि उसे अंगीकार कर आँच के अस्तित्व को भस्म कर मनुष्यता के अस्तित्व को बचा लिया।

सीता जैसे और जाने कितने चरित्र हैं इतिहास में जो किसी भी आँच के सामने पिघले नहीं, लेकिन ये चरित्र पूजा और आराधना के प्रतीक बना गिए गए, इसलिए कि हम इनके जैसी जिजीविषा अपने आप में नहीं सँजो सकते थे। इनके जैसी पाषाणी दृढ़ता और आँच के बीच से गुजर जाने का साहस नहीं जगा सकते थे।

प्राणवान होने का अर्थ मनुष्य होना नहीं है। प्राणवान होने का अर्थ पाषाण होना भी है। मनुष्य होने का अर्थ पत्थर भी ही और पत्थर होने का अर्थ मनुष्य भी है। निष्प्राण दृढ़ता में यदि प्राण रोप दिए जाएँ और प्राणवान मनुष्यता से आँच देखते ही पिघल जाने का अवसरवादी तत्त्व छीन लिया जाए तो इससे बड़ी उपलब्धि मनुष्यता के लिए कोई दूसरी नहीं।

लेकिन आज का परिदृश्य ही दूसरा है। हमारे आदर्श मोम हैं, आचरण मोम हैं, अस्तित्व मोम हैं। एक नदी बह रही है मोम की जिसके जल से हम अपनी ज़रूरतों के मुताबिक आदर्श गढ़ लेते हैं और इच्छित सिद्धि हो जाने पर इन आदर्शों को पिघलाकर उसी नदी में विसर्जित कर देते हैं। इसी नदी के जल में नगर गढ़ लेते हैं, पुतले गढ़ लेते हैं, प्रतिमा और पुल गढ़

लेते हैं। एक मोम–संस्कृति जन्मी है पिघलाव की, क्षणिक जमाच और पिघलाव की संस्कृति। एक छलावे का सांस्कृतिक ऐश्वर्य जन्मा है जो पल भर को जगमगा जाता है, फिर जाने कहाँ जगमगाहट विलुप्त हो जाती है। ऐश्वर्य पिघलकर किस नदी में विलीन हो जाता है, ज्ञात नहीं। चारों ओर चलते–फिरते, जगमगाते मोम के रंग–बिरंगे पुतले हैं। जिस पुलते में जितनी जल्दी पिघलने की क्षमता है वह उतना ही पुरुषार्थी है, सामर्थ्यवान है। कुछ पाषाणी पुतले थे उन्हें भी या तो मालाओं में लपेटकर विस्मृत कर दिया गया या धमन–भट्टियों में झोंक दिया गया। आज तो सारा साम्राज्य ही मोम का।

क्या यह मोम–संस्कृति कुछ करने को मजबूर नहीं करती ? क्या कहीं यह अहसास नहीं कराती कि भगीरथ की गंगा का स्थान मोम की नदी ने ले लिया ? लुप्त हो गए राम, कृष्ण, बुद्ध, कबीर, तुलसी और मीरा। जाने कहाँ धँस गए नानक, मुहम्मद और जीसस। तथ्य यह है कि यह मोम–संस्कृति इन सबकी औपचारिक याद–भर दिला देती है, फिर इस स्मृति को पिघलाकर मोम–नदी के जल को सौंप देती है। अवसर आने पर इस नदी का जल इन सब प्रतिमानों की प्रतिमाएँ गढ़ देता है और फिर अवसर जाते ही उनके पिंघलाव में देर नहीं लगती। यह संस्कृति कोई अहसास नहीं कराती, कुछ करने को मजबूर नहीं करती।

संस्कार और संस्कृति के पिघलाव का ऐसा दौर पहले शायद ही आया हो किसी ज़माने में, क्योंकि यदि अपने आपका ही विश्लेषण करें तो पाएँगे कि हम खुद कितने बड़े पुतले हैं मोम के। हम किसी की विकलांगता को देखकर, विपन्नता को देखकर, उसकी दारुण पीड़ा को देखकर नहीं पिघलते, लेकिन खुद पर जब रंच–मात्र भी संकट आए तो तुरन्त पिघलते हैं। समझौतापरस्ती ने हमारा सब–कुछ छीन लिया है, वह सब–कुछ जो हमें सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाता। इसी वृत्ति के कारण हम परस्त–दर–परस्त होते चले गए– फ़िरकापरस्त, जातिपरस्त, भाषापरस्त, संप्रदायपरस्त और न जाने कितनी तरह के परस्त। इस परस्ती ने हमारी मनुष्यता के पौरुष को परास्त कर दिया। आज हम सिर्फ़ ऐसा नपुंसक मल्ल हैं जो अकेले खड़े हैं अखाड़े में। कोई हम जैसा ही आ जाए तो दिखादे की कुश्ती हो जाती है, लेकिन यदि कोई आँचदार तीली भी प्रविष्ट हो जाए तो धराशायी होने में देर नहीं लगती।

ऐसा होगा कब तक? क्या यह सिलसिला अंतहीन होना चाहिए ? हरेक यही उत्तर देगा– नहीं। तो फिर इस मोम–संस्कृति से मुक्ति कैसे पाएँ ? कैसे इस तदर्थवाद को त्यागें ? कैसे इस मोम–नदी के प्रवाह को सदैव के लिए विराम दें जिसका जल हमारे स्वार्थों के मुताबिक आदर्श गढ़ लेता है, मूर्ति गढ़ देता है ?

इन प्रश्नों के उत्तर हमीं में छुपे हैं क्योंकि मोमनदी के स्रोत हम ही हैं। मोम से प्राणवान पत्थर कैसे बन पाएँ– आज इसी रचना–प्रक्रिया की शुरुआत करना ज़रूरी है। यदि यह प्रक्रिया शुरू हो गई तो फिर देर नहीं लगेगी परिदृश्य के बदलने में। आँच को तो कभी बुझना नहीं, उसे तो सुलगते ही रहना है, उसे तो प्रतिबद्ध ही रहना है पिघलाने के लिए; लेकिन आदमी आँच के बीच से गुज़रकर अपने–आपको आदमी के रूप में बरकरार रख सके इसके लिए ज़रूरी है कि वह पाषाण बने, पाषाणी नगर बनाए, ऐसे पाषाणी संस्कार ढाले

जिनकी दृढ़ता चुनौती दे सके आँच को। यदि ऐसा हो पाया तो फिर मोम की नदी नहीं बहेगी; नदी बहेगी ऐसे पवित्र जल की जिसकी तह में होंगे पत्थर।

फिर इस जल से कोई आदर्श नहीं गढ़े जा सकेंगे, कोई मूल्य नहीं ढाले जा सकेंगे किन्हीं ऐसे आचरणों की रचना नहीं की जा सकेगी जिनका उपयोग कर उन्हें तत्काल उसी नदी में विसर्जित किया जा सके; बल्कि, यह जल ऐसा होगा जिसके आचमन से पाषाणी देहवाले मनुष्य में कर्म के प्राणों की प्रतिष्ठा होगी और जिस जल के अर्घ्य उस इच्छा शक्ति को अर्पित होंगे जिसका भले कोई आकार न हो लेकिन जिसे नित्य–नए सृजन में साकार होते रहना है– बिना विराम के, बिना विश्राम के।

तृप्ति से तृष्णा का जागरण

पीले पत्ते, पथरीले पहाड़, पगहीन पगडंडियाँ, परागहीन पुष्प और पसीने के परिधान पहने पनिहारिनों की पाँत मैं कोई अनुप्रास नहीं बाँध रहा, इस तीखी तपन के प्रतीकों की बात कर रहा हूँ। गर्मी में यही तो सब–कुछ दिखाई देता है। बेहद गर्मी है, तपन है, लू के थपेड़े और जानलेवा जीवन–ऊर्जा को सोख लेने वाली मर्मान्तक वेदना है जिसे ये सारे प्रतीक व्यक्त करते हैं। पनिहारिन के परिधान पसीने के हैं, भले ही गागर में पानी भरा हो। इस विडम्बना को क्या अभिव्यक्ति दें? लेकिन यह शिकायत अकेले मौसम के संदर्भ में क्यों है ?

यह शिकायत समाज, देश और आज के संदर्भों में क्या नहीं होनी चाहिए? होनी चाहिए क्योंकि आज हममें से हरेक की यही विडम्बना है कि वह सिर पर भरे पानी की गागर ढो रहा है, लेकिन इस गागर के पानी पर उसका हक़ नहीं। उसकी नियति तो यही है कि वह पसीने के परिधान ओढ़े रहे और गागर का सुरक्षित जल गंतव्य तक पहुँचा आए। हम सब गागर ढो रहे हैं जो लबरेज़ है शीतल जल से, लेकिन हमारे कंठ प्यासे हैं, हम तरबतर हैं पसीने से, झुलस रहे हैं लू के थपेड़ों से और इस तरह शीतलता को ढोते हुए तपन झेल रहे हैं।

पानी से भरी हुई गागर है, मगर यह हमारी होते हुए भी हमारी नहीं। इस गागर को ढोने के लिए हम अभिशप्त हैं। यदि गागर का पानी छलक जाए तो वह दोष भी हमारा ही है। इस गागर के पानी की एक बूँद पर भी हमारा अधिकार नहीं। ऐसा क्यों ? इसलिए कि हम मान बैठे कि हमारी नियति सिर्फ दूसरों के लिए शीतल जल ढोने की है। हमारे से इन गागरों को दुलवाया जाता है, ताकि गंतव्य तृप्त हो सकें। गंतव्यों की तृप्ति के लिए हमारी तृषा माध्यम है। हम इन गंतव्यों के गुलाम हो गए। यही गुलामी हमारी सबसे बड़ी गलती है। ये गंतव्य चाहे जिस क्षेत्र में हों, कभी नहीं चाहेंगे कि उन्हें कभी गगरी को उठाने की भी ज़ेहमत उठानी पड़े। वे तो चाहेंगे कि उनके लिए हम गगरी ढोते रहें और सदैव ढोते रहें। हमारे इस भ्रम की एवज में वे हमें सपनों का संसार देते हैं, ऐसा संसार जिसके सपने देखते–देखते उम्र बीत जानी है लेकिन इन सपनों को कभी साकार नहीं होना। हम बड़ी आशा से अपनी इस तृष्णा को सहेजे रहते हैं और गंतव्यों की तृप्ति को ढोते रहते हैं। समाज हो, राजनीति हो, संप्रदाय हो, इनके मठाधीश ही वे गंतव्य हैं जिनके लिए हम इन गगरियों को ढो रहे हैं। हमारे–जैसा कोई स्वतंत्र गुलाम नहीं और इन मठाधीशों– जैसा कोई लोकतांत्रिक राजा नहीं। इन्हें राजा कहलाना पसंद नहीं, मठाधीश कहलाना पसंद नहीं, लेकिन जो कहलाना पसंद नहीं, वही बनना पसंद है। वास्तविकता तो यही है। कहेंगे कि यह सब तो आस्था का प्रतिफल है। आस्था है, श्रद्धा है तो ढो रहे हैं, गागर को इसमें क्या आपत्ति ? बड़ा सच्चा और खरा सवाल है। किसी की आस्था के निर्मल भाव के प्रति ऐसा दुराव क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर भी इसी में निहित है। आस्था तो हमेशा निर्मल होती है, इसलिए जब ऐसी निर्मल आस्था के साथ छल किया जाए, उसका शोषण हो तो इससे बड़ा कोई पाप नहीं होगा। आज के गंतव्य यही कर रहे हैं। वे भटका रहे हैं। निर्मल आस्था, छल के द्वारा शोषित हो रही है और केवल अपनी तृप्ति के लिए निर्मल आस्थावानों की तृष्णा को जीवित रखा जा रहा है। यह तथ्य इसलिए भी

खतरनाक है कि पहले श्रम का शोषण होता था वह तो हो ही रहा है, मगर अब शोषण आदमी के भाव का होने लगा। उस आस्थावान का शोषण होने लगा जिस आस्थाभाव ने कभी अतीत में अजन्ता रची, साँची के तोरण द्वार शिल्पित किए और कोणार्क को तराशा।

आज के परिदृश्य में आस्था के निर्मल भाव के साथ ऐसा छल–शोषण करने के कारण सारी रचनाशीलता विलुप्त हो गई। व्यक्ति आत्मकेन्द्रित हो गया, समाज–विमुख हो गया और आस्था के नाम पर वह रचने के बजाय, कुछ सर्जित करने के बजाय गगरियों को ढोने लगा। आज के सारे हरे और भगुए जुलूस, नारे, उनसे उपजने वाले त्रासद कर्फ्यू और मानवमात्र की यंत्रणाएँ केवल निर्मल आस्था के स्वार्थी शोषण को ही उजागर करते हैं।

सबसे पहले मनुष्य होना आता है, उसके बाद आता है धर्म जो अपने उदार अर्थों में मनुष्य होने की पहचान देता है। लेकिन जब धर्म को जाति, संप्रदाय और वर्ग के अर्थों में सीमित कर दिया जाता है तो फिर मनुष्यता गौण हो जाती है, धर्म संकीर्ण मान लिया जाता है, निर्मल आस्था भी छद्म करार दे दी जाती है और वह शोषित होने लगती है।

गगरी में जो शीतल जल हमने भरा वह जल हमारी तृष्णा को शांत कर दे, हमारी ही प्यास बुझा दे, हमें ही प्रेरित कर दे कि अब प्यास बुझी, काम में लगो तो अजन्ता फिर रची जा सकती है, कोणार्क फिर तराशा जा सकता है, साँची के तोरण द्वारों पर फिर शाल भंजिकाएँ उकेरी जा सकती हैं। लेकिन यदि यह नहीं हो पाया तो फिर इतिहास के पन्नों पर रचना की किसी इबारत को नहीं लिखा जाना है, क्योंकि जुलूस, नारे और वक्तव्य इतिहास की धरोहर नहीं होते। इतिहास की धरोहरें तो अजन्ता, साँची, केदार और कोणार्क को ही रहना है। इसलिए बेहद ज़रूरी है अपने आस्थाभाव के निर्मल बने रहने की उसकी निर्मलता की रक्षा करने की चिन्ता के बने रहने की। यदि यह चिन्ता नहीं रही तो इस भाव का शोषण होता चला जाएगा और हमारी पीढ़ी सिर्फ नारों और जुलूसों की ऐसी नपुंसक साक्षी भर बनी रहेगी जिसे सिर्फ़ कोसा जाएगा। अजन्ता, कोणार्क, रामेश्वरम्, पावागढ़, दरगाहे–अजमेर शरीफ, स्वर्ण मंदिर और गोवा के अद्भुत चर्च याद दिलाते हैं कि चाहे कोई भी धर्म हो उनकी आत्मा सिर्फ़ निर्मल आस्था और कर्मण्यता है जो सिर्फ़ रचना जानती है, ध्वंस और विद्वेष से जिसके कोई सरोकार नहीं। अब ज़रूरी हो गया है इस गागर–यात्रा को स्थायी विराम देना। यह ज़रूरी हो गया है कि हम स्वयं अपने लिए कलशों में शीतल जल भरें। यह ज़रूरी हो गया है कि गंतव्यों को जता दिया जाए कि अब उन तक गागर नहीं पहुँचाई जाएगी। या तो वे स्वयं अपने लिए जल भरें या प्यासे रह जाएँ।

हमें तृषित बने नहीं रहना, तृप्त होना है। यह तृप्ति उस जल के आचमन से मिलेगी जो हम स्वयं तपती धूप के बीच नदी के शीलत प्रवाह के बीच जाकर अपनी गागर में भरते हैं। इस तृप्ति के बाद की तृष्णा का स्वरूप भिन्न होगा। वह तृष्णा कुछ रचने की होगी, कुछ गढ़ने की होगी, कुछ निर्माण करने की होगी ! वह श्रम जो मठाधीशों के लिए गगरी ढोने में व्यय हो रहा है, वह श्रम तब सार्थक निर्माण में लगेगा। माध्यम कभी राह नहीं देते; भटकाव देते हैं। सच्ची राह की खोज तो मनुष्य की अपनी होती है। इतिहास ने हमारे सामने ऐसे

अनगिनत अनुकरणीय पथों के उदाहरण सजा रखे हैं कि इन पथों में से बड़ी आसानी से किसी पथ को चलने के लिए चुना जा सकता है और ये जितने अनुकरणीय पथ हैं वे इसीलिए अनुकरणीय हैं क्योंकि वे कर्मपुरुषों के द्वारा बनाए गए पथ हैं। इन पथों की आत्मा कर्मण्यता है, पौरुष है, जिजीविषा है। ये बेजान रास्ते नहीं हैं। इतिहास से बड़ा कोई गुरु नहीं। वर्तमान की सार्थकता इसी में है कि वह इस मौन गुरु की अन्तर्वाणी को सुनकर गुनने की कोशिश करे। अतीत की अनुकरणीयता को नकार देना बड़ा सरल है; यह और सरल है कि हम अपने आदर्श पथ तुरत–फुरत खुद बना लें, और सबसे सरल है बिना चलने का मन बनाए संतुष्ट और आत्ममुग्ध–भाव से जगह घेरकर बैठे रहें, कुछ करें नहीं और अंततः सदैव के लिए चल दें। ज़्यादातर यही कर रहे हैंया तो दूसरों के लिए खुद प्यासे रहकर गागर ढो रहे हैं या सिर्फ़ जगह घेरकर बैठे हैं।

बिना किसी माध्यम के अपने बलबूते पर अपना रास्ता तलाश कर उस पर चल पड़ना आज के मनुष्य की पहली ज़रूरत है। आलम्बन सहारा भर देंगे और माध्यम भटकाव, इसलिए बिना किसी आलम्बन और माध्यम के अपनी राह खुद खोजकर उस पर चल पड़ना ही एक रचनात्मक तृष्णा को परिभाषित करेगा।

बहुतेरे कलश रखे हैं, आगे आएँ, उन्हें उठाएँ, चल पड़ें, शीतल प्रवाह की ओर। उसके बीच जाकर इन कलशों में शीतल जल भरें, उसे सहेज लें और जब तपन बढ़े, कंठ सूखने लगें तो उस जल का आचमन कर अपनी तृषा शान्त करें और उंस तृष्णा को जगा लें जो अजन्ता रचे, कोणार्क तराशे, तोरण द्वारों पर कर्म का अभिनन्दन करती शाल–भंजिकाओं को उकेरे। शीलत जल से भरी गागर की यात्रा की सार्थकता इसी में है कि उस गागर के जल का आचमन हम स्वयं करें। तृप्ति भी मिले, साथ ही दुगुनी शक्ति से तृष्णा भी जाग जाए।

निबन्ध नहीं होता पूरा

निबंध पूरा ही नहीं हो पाता। तो फिर अभी तक जिन्हें निबंनध कहते रहे वे क्या हैं? वे निबंध हैं, लेकिन अधूरे हैं। जब ज़िन्दगी ही अधूरी हो तो निबंध पूरा कैसे लिखा जाएगा? निबंध तो वही पूर्णता में लिख पाएगा जो जीवन पूर्णता में जी ले। जिस कोण से देखें जीवन अधूरा ही दीखता है तो कैसे कहें कि जो निबंध लिखे गए वे अपने–आप में पूर्ण निबंध हैं? जीवन तो खुद निबंध होता है। कुछ जिसके शब्द–भर लिख पाते हैं, कुछ वाक्य लिख लेते हैं, कुछ उसका एक अंश लिख लेते हैं, लेकिन पूरा निबंध अपनी समग्रता में कौन लिख पाया है ?

निबंध नहीं होता पूरा। वह तो अधूरा ही रहता है और उसे अधूरा ही रहना चाहिए। इसलिए रहना चाहिए कि जिस दिन वह पूरा मान लिया गया उसकी अहमियत खत्म हो जाएगी। उसे भी पूजागृह में प्रतिष्ठित कर दिया जाएगा, भक्तगण उसे माल्यार्पित कर उसके अर्थ को नष्ट कर देंगे, इसलिए निबंध अधूरा ही रहना अच्छा। पूरा करने की होड़ में जो अनर्थ ईश्वर के नाम पर होता है, वह अनर्थ आदमी के नाम पर न हो, आदमी नाम के निबंध के नाम पर न हो, इसलिए निबंध की अपूर्णता बनी रहना ज़रूरी है।

मुझे अपनी अपूर्णता और अपने अधूरे निबंधों पर गर्व है। इसलिए है कि सोचता हूँ डगर तो मिली ! निठल्ला बैठा था, चलने तो लगा ! कहीं यह अहसास हो गया कि मंज़िल मिल गई तो सोच लूँगा कि निबंध पूरा हुआ, बैठ जाओ और फिर बैठा ही रह जाऊँगा। चलने को विराम न मिले इसलिए निबंध लिखता हूँ, निरन्तर लिखता हूँ और अधूरे निबंध लिखता हूँ।

आज कई ऐसे हैं जो मानते हैं कि उन्होंने कालजयी रच लिया। वे तृप्त हैं, पूर्ण मानते हैं अपने आपको और अपने शाश्वत सृजन का खुद बखान करते हैं। मुझे लगता है कि ये लोग भले ज्ञान में, उम्र में अनुभव में, समृद्धि में बड़े हों, लेकिन वास्तव में बड़े छोटे और बौने हैं। समुद्र में एक द्वीप पर अपना झंडा लहरा दिया और उसके अधिपति घोषित कर स्वयंभू सम्राट हो गए। समुद्र में उभरे धरती के एक छोटे से टुकड़े को अपना साम्राज्य घोषित कर सम्राट बन जाना बड़ा आसान है, आत्ममुग्ध कर देनेवाला है, मगर क्या उन्हें यह अनुभव नहीं होता कि उनके इस विदूषक चरित्र पर समुद्र और धरती दोनों ठहाके लगाते होंगे ? अनुभव नहीं होता है; इसलिए नहीं होता क्योंकि उन्हें ऐसे अनुयायी भी मिल जाते हैं जो उन्हें भरोसा दिला देते हैं कि आप तो चक्रवर्ती सम्राट हो इस धरती के, समूचे सागर के। ऐसे कालजयी सर्जकों ने हमेशा यह अहसास ज़िंदा रहने दिया है कि निबंध कभी पूरा नहीं होता है। पूर्ण होना, फिर चाहे वह किसी का हो, असंभव है, इसलिए पूर्ण शब्द की अस्मिता कायम है। अपूर्ण होने की अस्मिता इसलिए बरक़रार है क्योंकि उसका नैरन्तर्य भंग नहीं होता।

इन दोनों का अस्तित्व ज़रूरी है क्योंकि जब तक असंभव विद्यमान रहेगा, उसे संभव बनाने की कोशिशें जारी रहेंगी, और जब तक निरन्तरता रहेगी तब तक गति बनी रहेगी, वेग

बना रहेगा, प्रवाह थमेगा नहीं। असंभव और वेग के बने रहने का ही तो दूसरा नाम अधूरा निबंध है।

जब आदमी अधूरा, जीवन अधूरा, दुनिया अधूरी तो इन सब पर लिखे जाने वाले निबंध कैसे पूर्ण मान लिये जाएँ ? आधे बखरे खेत खलिहान में आधी उड़ी और आधी बिन उड़ी फसलें, हरियाते दीखते लेकिन फलहीन वृक्ष, आधे वसंत पार कर यौवन की दहलीज़ पर खड़ी जोगिया परिधान पहने जोगन, बिना पतवार के मँझधार में डोलती अधूरी नाव, अधूरे पाँव, अधूरे गीत, अधूरी तान, अधूरे स्वर, अधूरा सफर, जहाँ देखूँ वहीं अधूरा तो फिर निबंध कैसे पूरा हो ? इस अधूरेपन के रहते निबंध पूरा नहीं होगा। कह सकते हैं कि इस अधूरेपन को तो बने ही रहना है तो क्या कभी निबंध पूरा होगा ही नहीं ? नहीं होगा। अपूर्णता जब तक है, जब तक अधूरापन विद्यमान है, तब तक पूर्णता का निबंध कैसे रचा जा सकेगा?

जिन निबंधों को पूर्ण निबंध कहते हैं, उनसे बड़े कोई अधूरे निबंध नहीं। पूरा निबंध रचा जा सके– इसके लिए ज़रूरी है कि अधूरेपन को पहले उजागर किया जाए। फिर कोशिश की जाए कि यह अधूरापन दूर कैसे हो ? यही कोशिश अगला कदम होगी और इस तरह यात्रा बढ़ेगी आगे की ओर। इस यात्रा के पूर्ण होने की कोई समय की सीमा नहीं– उसे समय में बाँधना भी ठीक नहीं। वह जब कभी पूर्ण होगी, निबंध पूरा हो जाएगा। निबंध को पूरा करने की कोशिश न की जाए। निबंध को सायास पूरा करने की चेष्टा में कई अधूरे निबंध भी अच्छे नहीं रचे जा सके। अधूरे निबंध ही अच्छे रच लिये जाएँ बिना इस आकांक्षा के कि कोई कालजयी पूर्ण रचना रच ली, तो भी निबंध का लिखा जाना सार्थक होगा। अपने अधूरेपन को जानते, कभी तो पूरा रचा जा सकेगा? यह अभिलाषा बनी रही तो यह अधूरे निबंध की सार्थकता होगी। कई हैं दुनिया में जो अपनी निजी समृद्धि को जग की पूर्णता से जोड़कर देखने का यत्न करते हैं। जाने कितने ध्यानयोगी, कर्मयोगी, अर्थयोगी हैं संसार में जो अपने तई समृद्ध हैं, अपन आपको पूर्ण मानते हैं, और सोचते हैं कि उनकी जो उपलब्धि है वह जगत की पूर्णता है। उनसे बड़ा कोई अधूरा नहीं। अपनी निजी समृद्धि में जीवन लगा दिया, फिर उपदेष्टा होकर पूर्णत्व का आख्यान करने लगे, खुद अधूरे रहते हुए औरों को राह दिखाने लगे पूर्ण होने की, तो इससे बड़ा कोई छलावा नहीं। निजस्व के कायम रहते पूर्णता नहीं पाई जा सकती। निजस्व है, इसलिए अधूरापन है; निजता के तिरोहण का भाव पूर्णता की संभावना को जन्मेगा, लेकिन लोग अपनी निजता में खोए दूसरों को सामाजिक होने, समग्र होने की दृष्टि देने का दावा करते हैं। यही दावा मुझे बार–बार इसी नतीजे पर पहुँचाता है कि निबंध अधूरा है अभी। देखता हूँ तो देखता ही रहता हूँ, सोचने लगता हूँ तो सोचता ही रहता हूँ, लिखने लगूँ तो लिखता ही रहता हूँ, और मन यदि रम जाए बोलने में तो फिर बोलता ही रहता हूँ, यह निरन्तरता बनी रहती है, देखने, सोचने, लिखने और बोलने से मन कभी भरता ही नहीं। बीच–बीच में भले उचट जाए लेकिन वह तृप्त नहीं होता। यही अतृप्ति, यही प्यास, यही मन के न भर पाने का भाव बार–बार सहमत कराता है कि निबंध को तो अभी पूरा होना ही नहीं। हमारे जिन पुरखों ने बार–बार जन्म लेने की बात कही, वे सच्चे अर्थों में निजता से

छुटकारा पाने की आकांक्षा सँजोए रखने वाले लोग थे। एक जन्म के बाद दूसरा जन्म पाने की आकांक्षा के पीछे यह निहित था कि जो इस जन्म में नहीं कर पाए वह अगले जन्म में पूरा कर पाओ और तब तक जन्मते जाओ तब तक कि अपनी निजता नहीं खो दो, समग्र नहीं हो लो; कभी तो ऐसा जीवन जी जाओगे जो तुम्हारे लिए नहीं होगा। मोक्ष और कुछ नहीं सिवाए इसके कि ऐसा अंतिम जीवन जी लिया जाए जो अपने लिए न हो। इसलिए बार–बार जन्म लेने की बात जिसने कही उसका सार्थक अर्थ यही रहा कि व्यक्ति अपनी वैयक्तिकता से मुक्त होने की कामना में निरन्तर लगा रहे। जिन्हें अमर होने का वरदान मिला वे अमर भले कहे जाते रहे लेकिन निष्माण हो किंवदंती बन गए।

वैयक्तिकता, निजता से परे हो जाना ही सच्ची अमरता है।

यही अमरता ऐसा पूर्ण परमानन्द देती है जिसके लिए बार–बार मरण ज़रूरी होता है। कबीर इसीलिए मरण की कामना करते हुए विह्वल हो कहते थे –

कब मरिहों, कब देखिहों, पूरण परमानन्द ?

पूर्ण परमानन्द से साक्षात् हो जाए तो निबंध पूरा होता है, अन्यथा हर जन्म अधूरा निबंध है। यह पूर्ण परमानन्द की स्थिति क्या है? क्या आत्मलीन हो, सबसे विमुख होकर ध्यान में खो जाएँ और तल्लीनता की इसी मनःस्थिति में यह अनुभव करने लगें कि हमने परमानन्द को पा लिया या जप और ध्यान करते, सारे तीर्थों की यात्रा करते, सारी पवित्र नदियों में स्नान करते देह त्याग दें इस संतोष के साथ कि यही देह त्याग सच्ची मुक्ति है, परमानन्द का पा जाना है, पूर्ण हो जाना है ?

ज़्यादातर यही सोचते और करते हैं, लेकिन कबीर के लिए तो परमानन्द के अर्थ ही दूसरे थे। वे तो आजीवन जूझते रहे आडम्बरों से और यही सोचते रहे कि अभी काम पूरा हुआ नहीं, वह बदलाव नहीं आया जो उनकी व्याकुलता को शांत कर पाता, उन्हें तृप्त कर पाता, उन्हें परमानन्द दे पाता, इसलिए उनकी कामना रही कि मैं मरते दम तक जूझता रहूँ और यह मरण जल्दी आए क्योंकि तभी तो वह अंतिम जन्म होगा जिसमें मैं परमानन्द देख पाऊँगा, पूर्णता देख पाऊँगा।

पूर्णता के प्रति उनकी दृष्टि बड़ी मौलिक थी। एक निर्मल मनुष्यता, एक आडम्बरहीन समाज, एक ही जाति जिसका नाम मनुष्य है और एक ही धर्म जो सारे संप्रदायों से ऊपर उठकर सिर्फ एकता का उद्घोष करता है।

इन अर्थों में कबीर का जीवन पूर्णता की हद तक पहुँचने वाला एक अधूरा निबंध है। निबंध नहीं होता पूरा। अधूरे निबंध ही रचे जाते रहें, यही बड़ी उपलब्धि है, क्योंकि रचाव के रास्ते पर पाँवों के निशान तो बनते रहेंगे।

पाँवों का अस्तित्व रहे, वे निशान बनाते रहें, सपाट रास्ते पर गति दीखती रहे तो लगेगा कि रच लिया निबंध, लगेगा कि निबंध भले अधूरे रचे लेकिन जीवन तो पूरा जिया है।

राजधानी में लोकधानी तलाशते हुए

राजधानी, राजधानी होती है। राजशाही खत्म होने के दशकों बाद भी बड़े फख्र से उस जगह को हम राजधानी कहते हैं जहाँ से लोकतंत्र की गंगोत्री के फूटने का दावा होता है।

इस जगह को लोकधानी क्यों नहीं कहते ?

राजधानी का तो यह मतलब होता है कि जहाँ राजा रहे, जहाँ से राजकाज चले, जहाँ से हुक्म सुनाए जाएँ और हुक़्म उदूली की सजा दी जाए। राजधानी के यही अर्थ हमारे सदियों पुराने इतिहास से आज तक चले आ रहे हैं।

हम दावा करते हैं कि राज के अर्थ बदल गए, कोई राजा नहीं रहा, राज्य अब जनता का है और उसके नुमाइंदे शासन नहीं प्रशासन चलाते हैं। हुक़्म भी जनता देती है और सजा भी वही सुनाती है।

इन हालात में जबकि सारे अधिकार जनता के पास हैं तो फिर अर्थ के साथ संज्ञा क्यों नहीं बदली राजधानी की ?

सच शायद यह है कि अर्थ तो बदले ही नहीं कुछ, शब्द–भर बदल दिए गए और जब ये बदलाव लाने की कोशिशें हुई तो 'राजधानी' शब्द छूट गया।

यदि अर्थ बदलते तो यह शब्द खटकता और बदल दिया जाता मगर जब अर्थ ही नहीं बदले तो इस शब्द की व्यंजना के बदलने का भी क्या सवाल ? इसलिए राजधानी को राजधानी ही मानना चाहिए। राजधानी में लोकधानी के अर्थ खोजने की गुंजाइश नहीं है।

शुरू–शुरू में जब मैं राजधानी आया तब मेरे भाव दूसरे ही थे। चाहे सचिवालय जाने वाली सड़क हो या किसी 'लोकराजा' के बंगले तक जाने वाली लिंक रोड, वे मेरे लिए जनपथ ही थे लेकिन वक़्त बीतते यह अहसास गायब होने लगे। इन सड़कों पर चलने वाले लोग, बंगलों के बाहर भीड़ लगाए लोग, दमकती कारें, चमकती लाइटें, लाल, हरी, पीली और दूधिया रौशनी की जगमग यह अहसास कराने लगी कि मैं जनपथ पर नहीं राजपथ पर हूँ।

इन सड़कों पर चलने वाले लोगों को मैंने देखा कि वे किसी अधिकार से चलते। उनकी चाल तो उस याचक की तरह होती जिसकी पीठ पर यातनाओं की ऐसी गठरी हो जिसके बोझ तले उसके कंधों की हड्डियाँ झुक गई हों। बंगलों के बाहर खड़े ऐसे याचकों के हाथों में मैंने अर्ज़ियों की खाली कटोरियाँ देखीं और देखा कि बजाय कुछ देने के ये कटोरियाँ रख ली गईं और बाद में उन्हें बगैर देर किए फेंक दिया गया क्योंकि उनसे बंगलों के कालीन गंदे होते थे।

राजधानी में सिर्फ दो किस्म के लोग दीख पड़े, लेने वाले और देने वाले, पाने वाला कोई नज़र नहीं आया।

यहाँ विधान मिले, नियम मिले, प्रक्रिया मिली लेकिन क्रिया नहीं मिली। गति का अभिनय हर जगह देखा मगर पाई सिर्फ जड़ता और स्थिरता।

एक से एक गांडीवधारी धनुर्धर लक्ष्य बेधने को तत्पर दिखाई दिए लेकिन किसी भी ऐसे अर्जुन के आगे कोई मीन नहीं दिखाई दी। आँख वाली मछलियाँ तालाब में तैरते देखीं और अंधे धनुर्धर लक्ष्य साधते देखे। हाथ चलाए तो मुट्ठियों में सिर्फ हवा आ पाई, गुलाब सूँघे तो गंधहीन निकले, राजधानी के बाज़ार से एक बाँसुरी खरीदी, सोचा कुछ मीठे बोल निकालूँगा तो उसके रंध्र ही बंद पाए, मेरी साँस फूल गई मगर वंशी से कोई स्वर नहीं फूटे।

स्वर से सड़क तक को साधा मगर नतीजा सिफर ही रहा। मैं यहाँ बस ढूँढ़ता रहा लेकिन न तो ताल में डूबने वाले मिले, न अस्पताल में भर्ती होने वाले। यहाँ सब कुछ सुलभ और सब कुछ दुर्लभ मिला।

राजधानी में सैलाब हैं—आदमियों के, कारों के, कला, धर्म और साहित्य के नाम पर चाँदी बटोरने वाले कलाकारों के, हर तरह का काम कराने की ताकत रखने वाले ठेक़ैदारों के, अंदर से पोले लेकिन ऊपर से कर्णभेदी आवाज़ निकालने वाले नक्कारों के, खुशनुमा बहारों के, दिलकश नज़ारों के और सिर्फ वज़न को ढोते हुए लहूलुहान काँधों वाले कहारों के भी।

तरह—तरह के इन अंतहीन सैलाबों का कहीं कोई छोर नहीं है।

राजधानी का कोई कोना सूखा नहीं है, हर जगह या तो सैलाब है या जगह सैलाब गुज़र जाने की वजह से नम है।

राजधानी में राज ही राज है। अफसरों का, अवसरों का, खबरों का और मसखरों का भी। यह प्रदेश के हर आस्तिक का एक मात्र पवित्र धाम है। चार धामों की आस्था रखने वाले गँवई श्रद्धालुओं के लिए यहाँ कोई जगह नहीं है। इस पवित्र धाम में बड़े—बड़े मंदिर हैं, मस्जिद हैं, गिरजाघर हैं, गुरुद्वारे हैं जहाँ प्रार्थनाएँ होती हैं, नमाज़ें अदा की जाती हैं, प्रेयर होती हैं, ग्रंथवाणी का पाठ होता है। फर्क़ सिर्फ इतना है कि इन स्थानों में जिन ईश्वरों की वंदना की जाती है, वह आम ईश्वर से भिन्न हैं।

राजधानी में पूजे जाने वाले ईश्वरों ने खुद अपने पूजने के लिए स्थान तलाश कर अपने आसपास अपनी—अपनी भक्त मंडलियाँ जोड़ रखी हैं, अपने—अपने धर्म—ग्रंथ रच रखे हैं, अपने—अपने पुजारी पाल रखे हैं। इन भगवानों के आसपास झूठे भरोसों के परकोटे हैं और आश्वासनों के तोरण। इनके पास वह सब कुछ है जो सच्चे ईश्वर के पास नहीं है। ये आत्माहीन परमात्मा हैं। इन ईश्वरों के पास अपनी भव्यता का शिल्प तो है लेकिन भावना के प्राण नहीं।

इनके भक्त भी इनकी तरह हैं। वे भक्ति भाव में आकंठ डूबे रहते हैं। उनकी आस्था तो स्थिर रहती है, बस आराध्य बदलते रहते हैं। वे ऐसे दिए हैं जिनको अनवरत जलना है।

उनका घी कभी खत्म नहीं होता, जोत कभी बुझती नहीं मगर उनकी रौशनी सिर्फ सिंहासन पर विराजे भगवान के लिए है। भगवान कौन है ? इससे उनके कोई सरोकार नहीं।

राजधानी बहुत धार्मिक और बहुत अधार्मिक भी होती है।

यहाँ हर चीज़ का भाव है, कत्थक का भी, कत्थे का भी। अभाव सिर्फ कर्म, शर्म और मर्म का है। यहाँ छल के छातों तले मौसम बीतते हैं और छद्म की छत के तले रोज़मर्रा की ज़िंदगी।

इन छतों और छातों के बिना जीना दूभर है।

मेरी नज़र में राजधानी एक दिल की, लाखों दिलों में पलती, करोड़ों आशाओं से रोज़ की जाने वाली दिल्लगी है।

हालाँकि ऐसा कोई हक़ उसे नहीं मिला था लेकिन उसने हथिया लिया।

राजधानी एक ऐसी तिजोरी है साहूकार की जिसमें लोग आशाएँ गिरवी रख जाते हैं और उनके बदले अपनी मुरादों के पूरी होने के सपने लेकर लौट आते हैं।

सपने पूरे होते नहीं, ब्याज बढ़ता जाता है और आशाएँ इस बंदीगृह में छटपटाती रहती हैं।

मज़े की बात यह है कि जो भी साहूकार इस तिजोरी का मालिक बनता है वह इन बंद आशाओं को तुरंत मुक्त करने की घोषणा करता है पर उसकी घोषणा के दूसरे रोज़ से उस तिजोरी में उड़ती हुई आज़ाद आशाओं की तितलियाँ और पकड़–पकड़ कर बंद की जाने लगती हैं।

किसी भी राजधानी की रंगीनी उसके खुद के रंगों की नहीं होती, उन तितलियों के पंखों के झरे रंगों की होती है जो तिजोरी से निकालकर उसके कपाटों पर रंग दिए जाते हैं।

राजधानी यंत्र, तंत्र और मंत्र का केंद्र होती है। यहाँ यंत्र की भी यंत्रणा है और तंत्र की भी। जहाँ दो लोग आपस में मिलते हैं वे या तो एक दूसरे को यंत्रणा देने लगते हैं या मंत्रणा करने लगते हैं। राजधानी के आदमी का व्यवहार किसी यंत्र के पुर्ज़े का–सा भावहीन व्यवहार है, जिसमें सिर्फ खटखटाहट गूंजती है। यहाँ का निवासी निकटता के अभाव की समस्या से जूझता है, चाहे यह निकटता स्थान की हो या मन की। हर एक जगह से दूसरी जगह तक के फासले लम्बे हैं। स्थान हों या मन दोनों दूर–दूर बसे हैं। इन फासलों को तय करने के बाद जगहें तो मिल जाती हैं लेकिन मन नहीं मिल पाते। यहाँ के आदमी का मन या तो किसी तंत्र के चमत्कार की आशा में जीता है या यंत्रवत बस खटखटाता सा रहता है। मन के मिलाप वाले दृश्य भी यहाँ दीखते हैं लेकिन इन दृश्यों में छुपी भितरघात साफ नज़र आ जाती है। यहाँ के फक़ीर राजा जैसा अभिनय करते हैं और जो राजा हैं वे फक़ीर की मुद्रा में झोली

लटकाए घूमते हैं। यहाँ के बंगलों के अंदर राजा नहीं फक़ीर रहते हैं, राजा तो बाहर घूमते हैं तरह–तरह के वेशों में, शक्लों में।

राजधानी एक साहूकार का ऐसा खाता है जिसमें रोज़ सैकड़ों कलमें जमा और नामे माँडी जाती हैं। इन कलमों का जमा–खर्च करने वाले सैकड़ों की तादाद में मुनीम में हैं। इस खाते में संस्कृति, साहित्य, लोककला, नाट्य और संगीत के लिए भी कुछ पन्ने छोड़े गए हैं जिनमें यदाक़दा एंट्रियाँ डाली जाती हैं। खाते के बाकी पन्नों में सिर्फ राजनीति और अर्थ की प्रविष्टियों का ही जमा–खर्च मिलेगा।

और भी बहुत कुछ है कहने को राजधानी के बार में। यों यह भी कहा जा सकता है कि ऊपर जो कुछ कहा गया वह सिर्फ आलोचना ही आलोचना है, राजधानी की गतिविधियों का एकांगी चित्रण है लेकिन यह सब कुछ वही है जिसकी वजह से राजधानी, राजधानी है, लोकधानी नहीं है।

मैं राजधानी में उन मिले हुए मनों को कहाँ ढूँढूँ जो दो होकर भी एक दीखते हैं? आज़ाद उड़ती तितलियों को कहाँ खोजूँ ? कहाँ इकलौता ईश्वर पा लूँ और कहाँ ऐसा दिया जिसकी जोत को मालूम हो कि वह किसके जल रही है ?

यह तो बिना खोजे सिर्फ उस लोकधानी में मिल पाएगा जिसे मैं खोज रहा हूँ।

शिखर से बोलते हुए

जी हाँ मैं शिखर से बोल रहा हूँ। उत्तुंग शिखर से जिसके शीर्ष पर सिर्फ मैं हूँ। शिखर के शीर्ष पर पहुँच जाने के बाद बोलना अनिवार्यता भी बन जाता है और विवशता भी, इसलिए मैं बोल रहा हूँ।

शिखर की चोटी पर अकेला मौन बैठा हूँ तो फिर वहाँ बैठने कौन देगा? कई मौनी शिखर पर पहुँचने के लिए अविराम यात्राएँ कर रहे हैं, सिर्फ इसलिए कि शिखर तक पहुँच जाएँ फिर बोलें। मौन यदि बीच में भंग हुआ तो यात्रा खंडित हो सकती है, कोई दूसरा मौनवृत्ती वहाँ पहुँच जाएगा।

इसलिए बोलने के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रतिस्पर्धा मौन की होती है।

मौन यात्रा का सबसे बड़ा फायदा यह है कि कोई दूसरा प्रतिस्पर्धी आपके मंतव्य को जान नहीं पाता। इस यात्रा के रास्ते भी कई होते हैं इसलिए अलग–अलग रास्तों से, छोटे और दुर्गम रास्ते तलाशते हुए भी रोग चुपचाप चलते रहते हैं और जो पहले पहुँच जाता है शीर्ष पर शिखर के, वह वाचाल हो उठता है।

मैं भी चुपचाप चला। छोटे रास्ते ढूँढ़े जो दुर्गम भी थे और वक़्त आया कि मैं औरों के पहले शिखर के शीर्ष पर पहुँच गया और अब वहाँ से बोल रहा हूँ। मेरे कई साथी जो मुझसे पहले चले, जिनकी तैयारी की खबर रही लोगों को, जिन्होंने वर्षों पहले मुझसे यात्रा आरम्भ की वे अभी मुझे शिखर से काफी नीचे की पगडंडियों पर बौने से दीख रहे हैं और मैं शिखर पर बैठा बोल रहा हूँ।

बोलने, बोलने में भेद हैं। शिखर से बोलना और धरातल पर खड़े रहकर बोलना ज़मीन और आसमान के अंतर की तरह है। शिखर से बोलो तो भले ही वाणी अस्पष्ट हो, समझ में न आए केवल गूंजती भर रहे तो भी बोलना सार्थक होता है। उसकी कद्र होती है और धरातल पर खड़े रहकर सही बोलो, स्पष्ट बोलो, समझ में आने वाली बात बोलो तो भी समझ में नहीं आती।

आकाशवाणी का महत्त्व इसीलिए है कि वह ज़मीन से नहीं होती। अपने–अपने काल में जो ज़मीन से ज़मीन की बात, लोगों से लोगों की बात उन्हीं की भाषा में बोले उन्हें या तो ज़हर के प्याले थमा दिए गए, टाँग दिया गया फाँसी पर, पत्थरों से मार दिया गया या अनाम जला दिया गया, दफना दिया गया।

वे सुकरात थे, मंसूर थे, जीसस थे, कबीर थे या मीरा थी

सदियाँ उनकी सरल और सहज बातों को समझने में लगी। कई पीढ़ियों के दौर गुज़र गए तब उनका कहा समझ में आया। उसे मान्यता मिली लेकिन कब ?

जबकि वाणी से रिश्ता टूटे शताब्दियाँ बीत गईं और वे मौन हो गईं सदा के लिए। आज उनकी वाणी उधार के कंठों में क़ैद है और उस मौन के सहारे ये उधार के कंठ अब वाचाल हो पूजे जा रहे हैं, मालाएँ पहन रहे हैं, समारोह कर रहे हैं, जयंतियाँ मना रहे हैं।

मीरा से मंसूर तक की यही कहानी है। मूल वाणी तिरस्कृत हुई और उधार के कंठ पूज दिए गए।

इतिहास के इसी सबक को ध्यान में रखकर मैं ज़मीन पर नहीं बोला। चुपचाप रहा, छोटे और दुर्गम रास्तों को लाँघकर शिखर पर पहुँचा और अब वहीं से बोल रहा हूँ। मैं नहीं जानता कि मैं क्या बोल रहा हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि धरातल तक पहुँचते–पहुँचते ये बोल एक गूंज में बदल जाएँगे, अस्पष्ट गूँज में जिनका कोई अर्थ भी नहीं निकलेगा या अनेक अर्थ निकलेंगे। लोग शिखर पूजते हैं, उस विराजे हुए को पूजते हैं।

वाणी को कौन पूजता है ?

वाणी से ज़्यादा स्थायित्व और गरिमा उसकी अस्पष्ट अनुगूँज में है। व्यक्ति से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण उसकी परछाईं है जो उससे कहीं अधिक लम्बी होती है। इसलिए इस गरिमामय गूँजों और परछाइयों की कहीं अधिक प्रतिष्ठा है। वाणी और व्यक्ति गौण हैं इनके समक्ष। शिखर के शीर्ष पर बोलने से अनुगूंज भी बहुत होती है और परछाईं भी लम्बी हो जाती है।

मैं इसीलिए शिखर के शीर्ष से बोल रहा हूँ।

धरातल पर बोलने वाले कई हैं लेकिन उनकी सुनने वाला कोई नहीं है। यदि शीर्ष से बोला जाए तो उसकी अस्पष्ट अनुगूंज को धरातल के सभी लोग सुनते हैं, वे भी जो बोलते हैं और वे भी जो सिर्फ सुनते हैं। ये सभी ध्यान से कान लगाकर सुनते हैं और फिर इस अनुगूंज में अर्थ ढूँढ़ने लग जाते हैं।

मैं शिखर से बोलता रहूँ, ज़मीन के लोग उस अनुगूँज को सुनते रहें, उसमें खोकर अपना बोलना भूल जाएँ और सिर्फ उसके अर्थ खोजने में तल्लीन हो जाएँ यही तो मेरा उद्देश्य है।

इसीलिए मैं शिखर के शीर्ष से बोल रहा हूँ।

इस बोलने में मैंने एक सावधानी बरती है, वह यह कि बोलने में निरंतरता न रहे, कुछ विराम भी हो। निरंतर बोलते रहने से इन बोलों की अनुगूँज शोर में बदल सकती है। एक समरसता पैदा हो सकती है। बोल की पोल खुलने का भय हो सकता है। कोई और भी प्रयास कर सकता है विद्रोह का। इसलिए मैं बोलने की निरंतरता बरकरार नहीं रखता। मैं बोलने की शैली भी बदल देता हूँ जिससे गूंज के स्वरों में भिन्नता आए और ज़मीन के लोग नए अर्थ ढूँढ़ने में तत्पर हो जाएँ।

इसलिए मैं बोलते, उसे थोड़ा विराम देते और उसमें थोड़ा बदलाव लाते शिखर के शीर्ष से बोल रहा हूँ।

मैं वर्तमान हूँ और भविष्य में भी इसी वर्तमान को जीवित रखना चाहता हूँ। यह भी चाहता हूँ कि यह वर्तमान जब अतीत में बदले तब इतिहास मेरे शीर्ष बोलों को अमर जगह दे, मेरी लम्बी परछाईं को प्रेरणापुंज के रूप में प्रतिष्ठित करे। भावी पीढ़ियाँ मेरी परछाईं और मेरे बालों की अनुगूंज में मेरे कृतित्व और व्यक्तित्व की तलाश करें और मुझे महान मानने की चिरभ्रांति पाल लें।

मैं इसी चिरभ्रांति के स्थायित्व को बरकरार रखने के लिए शिखर के शीर्ष से बोल रहा हूँ।

मैं जानता हूँ मेरे इन बोलों के बीच नैसर्गिक गीत दब गए, संगीत दब गया, ताल भंग हो गई, कई ओजस्वी स्वर खो गए, माधुर्य की तान विलीन हो गई मगर मैं विवश हूँ। शिखर पर बैठकर मैं कोई ऐसा गीत नहीं गा सकता, कोई ऐसी कविता नहीं सुना सकता जो ज़मीन के लोगों में सम्वेदना जगा जाए और लोग खुद के स्वत्व को तलाशने की जुर्रत करने लगें। मेरा अस्तित्व और उसकी महानता तो इसी में है कि मैं ऐसा बोलूँ जिसके लोग अर्थ ढूँढ़ते रहें। जिस दिन लोग इन बोलों की निरर्थकता समझ गए और अपना स्वत्व खुद खोजने लगे उस दिन मैं, मैं नहीं रह जाऊँगा। इसलिए मैं गीत, संगीत, लय, तान और माधुर्य का हंता ही बना रहना चाहता हूँ। ये सब मेरे बोल की अनुगूँज के शत्रु हैं। इनकी पराजय में ही मेरी जय है।

इसलिए इन सबको रौंदकर, इन्हें दबाकर अपने पैरों तले मैं शिखर के शीर्ष से बोल रहा हूँ।

एक सिद्धांत है कि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। लेकिन शिखर से बोलना इसका अपवाद है। इस मायने में कि शिखर से निकले बोल नीचे तक पहुँचते–पहुँचते अनुगूँज में बदल जाते हैं, अस्पष्ट सी अनुगूंज में जो समझ में नहीं आती है और अनुगूंज की क्या प्रतिक्रिया होगी? वह तो ज़मीन पर उतरती है और थोड़ी देर ठहर फिर विलीन हो जाती है जैसे जुगनू की रौशनी।

ऐसी रौशनी से क्या भय ? उसकी क्या प्रतिक्रिया ? क्या विरोध और क्या विद्रोह ?

थोड़े विराम के बाद जब दूसरी अनुगूँज आती है तब तक लोग पहली को या तो भूल चुके होते हैं या फिर उसके अर्थ खोजते रहते हैं। उनकी यह क्रिया चलती रहती है। यह अपने आप में इतनी पूर्ण और आवरण मय होती है कि उस पर किसी दूसरी क्रिया का असर ही नहीं होता। मेरा ध्येय भी यही है कि कोई प्रतिक्रिया न हो केवल ठहराव बना रहे, पोखर के पानी की भाँति ऐसा ठहराव जिसमें लहरें न उठें क्योंकि लहर का जन्म मेरे अस्तित्व का अंत है।

इसलिए इस ठहराव को अपलक निहारते मैं शिखर के शीर्ष से बोल रहा हूँ।

मेरी नज़र इस ठहराव पर भी है और शिखर तक पहुँचने वाले रास्तों पर भी क्योंकि कई मौनवृत्ति जो मेरे अनुगूँज के भ्रम को समझ गए इन रास्तों पर चलने के लिए नकल पड़े हैं। कई पहले से ही चल रहे हैं। इसलिए मैं अपने दोनों हाथों से अनवरत पत्थरों को भी उन रास्तों पर लुढ़का रहा हूँ जो शिखर पर पहुँच सकते हैं। इसमें कोई बुराई नहीं, बल्कि मेरे लिए तो बुराई जैसा कोई शब्द ही नहीं है क्योंकि जो मैं बोलता हूँ वही सच है और जो करता हूँ वही अच्छा है। इसलिए मेरा पत्थर फेंककर उन रास्तों को बंद कर देना मेरे हित में है। मेरा हित ही सबसे बड़ा सच है और सर्वोत्तम है इस सच को अंगीकार कर लेना।

इन पत्थरों की वर्षा से मैं उन पथिकों का दम्भ तोड़ रहा हूँ जो यह भ्रम पाले हुए हैं कि वे उस शिखर पर पहुँच जाएँगे जहाँ मैं आसीन हूँ। उनके अहं ने उन्हें भ्रमित कर दिया है। मैं चाहता हूँ कि उनका यह भ्रम टूटे और वे फिर धरातल पर पहुँच उन्हीं लोगों में शामिल हो जाएँ जो जाने कब से इन अनुगूँजों के अर्थ ढूँढ़ रहे हैं।

इसलिए निरंतर अपने दोनों हाथों से शिखर तक आने वाले रास्तों पर पत्थर फेंकते हुए, मैं शिखर के शीर्ष से बोल रहा हूँ।

यह सभी जानते हैं कि जितना सहज बोलना होता है उतना ही दुरूह होता है करना। वे विभूतियाँ अब सिर्फ इतिहास की धरोहर हैं जिन्होंने जो बोला वह किया। गांधी से गांधारी तक, मीरा से मंसूर तक और महावीर से कबीर तक।

ये व्यक्तित्व अब समय की चादर की सिलवटें भर हैं।

इतिहास की हर करवट के साथ इन सिलवटों का सिलसिला चला मगर, ज्यों–ज्यों समय की चादर रेशमी होती गई, इन सिलवटों का बनना बंद होता गया। आज के समय की चादर ऐसे रेशमी कपड़े की है, जिस पर जब इतिहास करवट लेता है तो कोई ऐसी सिलवट नहीं पड़ती जो इस बात की साक्षी हो कि इस सिलवट में कहीं कोई महावीर है या कबीर।

इतिहास की ये सिलवट भरी चादरें या तो संग्रहालयों की शोभा हैं या अवसरों की।

आज के समय की चादर इतिहास की करवट से कोई सिलवट नहीं चाहती। हम भी नहीं चाहते कि ऐसी सिलवटें पड़े इस चादर पर। लेकिन समय की चादर को तो बिछते चले जाना है, उसका कोई दूसरा छोर तो होता नहीं और फिर उसे भी तो अपनी गरिमा बनाए रखना है। अपने इतिहास पुरुष को समेटने वाली चादर ने अब इस इतिहास पुरुष से कह दिया है कि तुम मुझ पर शयन करो पर करवट मत लो। तुम्हारे करवट लेने से सिलवटें पड़ती हैं कबीर की, गांधी की, महावीर की, मंसूर और मीरा की। ये अब बहुत पड़ चुकीं मुझ पर। इन्हें अब विराम दो। मुझ पर पड़े रहो सीधे, यथावत आँख खोले।

मैं अब इस चादर में सिर्फ गूँजों को सहेजूँगी।

जो शिखर से बोलेगा उसकी अनुगूँजों को सहेज कर सौंप दूंगी तुम्हें, इससे मुझमें सिलवटें भी नहीं पड़ेंगी और ये तुम्हारी धरोहर भी होंगी तथा मेरी गरिमा भी। इससे मेरा रूप भी यथावत ही रहेगा इसलिए मेरे इतिहास पुरुष तुम सिर्फ लेटे भर रहो, करवट मत लो।

परिणाम यह है कि समय की चादर शिखर के शीर्ष से उतरी अनुगूँजों को सहेज कर इतिहास को सौंप रही है। जाग्रत इतिहास पुरुष आँखें खोले लेटा है इस चादर पर, उन्हें समेट रहा है अपने अध्यायों में उनके अर्थ खोजकर। वह व्यक्तित्व और कृतित्व को छोड़कर गूँज और परछाइयाँ रच रहा है। इससे सभी खुश हैं, समय भी, इतिहास भी, लोग भी और मैं भी।

इसीलिए मैं शिखर के शीर्ष से बोल रहा हूँ।

कुम्भ का मेला, मैं भीड़ में अकेला

मोह, मानव मन की कई दुर्बलताओं में से एक का नाम है। इस दुर्बलता का पाश बड़ा सबल है। इतना सबल कि जिसमें जकड़े–जकड़े हम निष्प्राण हो जाते हैं, लेकिन यह पाश हमें नहीं छोड़ता और न ही हम इसको। तर्क, ज्ञान, साधना, विराग दर्शन के शस्त्र प्रहार मोह के इन पाषाणी बंधनों पर पड़ते रहते हैं, लेकिन ये वज्र बंधन नहीं टूट पाते।

मोह तर्क को आस्था से, ज्ञान को दर्शन से, साधना को विलास से और वैराग्य दर्शन को जिजीविषा से पराजित कर देता है। मोह को तोड़ने वाले शस्त्र आपस में ही द्वंद्व करते रहते हैं, लेकिन मोह का शाश्वत रूप कभी भंग नहीं होता।

हर बारह बरस में हरिद्वार और प्रयाग की गंगा पर सजने वाले, सिंहस्थ के नाम से महाकाल की उज्जयिनी और नासिक के गोदावरी तट पर जुड़ने वाले कुम्भ, मोह के मेले हैं।

जाने कितनी सदियों से अमरत्व की आकांक्षा लिये अनगिनत पीढ़ियों ने हर बारहवें वर्ष इन पुण्य सलिलाओं में स्नान किया होगा और चिर जागरण की आकांक्षा को सँजोए चिरनिद्रा में लीन हो गई होंगी।

देवताओं के घट से भूलवश अमृत की एक तरल बूँद हमारे मानस की ऐसी पाषाणी आस्था बनी, जो दृढ़ से दृढ़तर होती गई। आस्था के ये प्रस्तर न टूट सके। न कोई शिल्प इन्हें बाँध सका, न इनकी कोख से कोई गंगा, गोदावरी या शिप्रा फूट सकी। अमृत की यह बूँद आस्था का पाषाणी स्वरूप भर रह गई।

यदि अमृत का अर्थ सिर्फ हर बारहवें साल एक नए पत्थर को जन्म देकर अपने अस्तित्व की अमरता को सार्थक करना है तो फिर हर कुम्भ शायद चिर जीवन के बजाय चिर मरण का साक्षी है, क्योंकि पत्थरों में प्राण नहीं होते।

निष्प्राण आस्था अमरता का क्या वरदान देगी ?

हर कुम्भ हमारी इसी निष्प्राण आस्था का प्रतीक भर बना रह जाता है।

अमृत तो धरोहर है देवताओं की। उन्होंने उसे समुद्र मंथन से अपने लिए प्राप्त कर सँजोया या घट में, उनकी भूल से टपकी थी, अमृत की बूँदें। उन्होंने वर्षा नहीं की थी उनकी, हमें अमर करने के लिए। फिर जाने क्यों हम लालायित हो उठे इतने उन बूँदों के पीछे, जो हमारी धरोहर ही नहीं रहीं, जो देवताओं की अनिच्छा से टपकी धरती पर, जिन पर हमारा कोई अधिकार ही नहीं रहा।

सम्भवतः इसलिए कि हम भी सहभागी हो सकें देवत्व के, अमरत्व के, लेकिन हम शायद कुम्भ में स्नान करते समय यह भूल जाते हैं कि किसी की भूल उसका वरदान नहीं होती। असावधानी से हुए कृत्य का परिणाम केवल पश्चाताप होता है। बड़ों की भूल या

असावधानी उन्हें सजग कर देती है, वे उसकी पुनरावृत्ति नहीं करते, बल्कि छोटों को उसका फल भुगतने के लिए छोड़ देते हैं।

इसलिए ये पीयूष बूँदें बाद में कभी नहीं टपकीं और हम आज भी अमृत की कल्पना के अतीत में स्नान कर रहे हैं।

देवताओं ने तो अपनी भूल दुबारा नहीं की, लेकिन हम छोटे लोग हर बारहवें साल सिर्फ स्नान कर अमर नहीं होते पछताते हैं।

अमरत्व की आकांक्षा लेकर क्षिप्रा में स्नान करने के बाद, मरण को वरण लेना सिर्फ पछताना है। ऐसा पछताना जिसकी अनुभूति भले न हो, क्योंकि मोह की पाषाणी दीवार अनुभूति के रास्ते रोक लेती है, लेकिन हमारा पछतावा देवताओं की गरिमा के अनुकूल है। यह उनके देवत्व के अहं को सहलाता है।

बड़े अपनी भूल का पश्चाताप भी छोटों के पछताने में देखते हैं, इसलिए कुम्भ हमारे लिए पछतावा पर्व है, न पुण्य पर्व न पावन पर्व। यह पाषाण पर्व है, जो सदियों से निर्मित होते आ रहे आस्था के हिमालय में हर बारहवें साल एक पत्थर और जोड़ जाता है।

मैं आस्था और आशा से भरपूर प्राणवादी हूँ। मैं न तो अनास्थावादी हूँ न ही अनीश्वरवादी, लेकिन प्राणवादी ज़रूर हूँ।

आस्था में प्राण हों तो कर्म का ईश्वर जीवंत हो उठता है।

मेरी प्राणवान आस्था जब मेरे ईश्वर की प्रतिमा के समक्ष खड़ी होती है तो लगता है, जैसे इस आस्था की साँसें इस प्रतिमा में समा गई हों, मुझे झुकना नहीं पड़ता।

इस जीवित ईश्वर के चरणों में असंख्य प्रणाम स्वयमेव बिखर जाते हैं। प्रणामों की इस गंगा में स्नान कर मैं अमर हो उठता हूँ। मेरा अमरत्व देह से नहीं जुड़ा है, वह सिर्फ नेह से जुड़ा है। नेह के निर्झर में नहाने का मतलब अमरत्व को पा लेना और नश्वरता को उसमें विसर्जित कर देना है।

अमरता को देह के आवरण में देखते–देखते हमारी आँखें इतनी संकीर्ण हो गई हैं कि वे देह के बने रहने को अमरता और उसके निष्प्राण हो जाने को अमरता का अंत मानती हैं।

रीति भी यही चली आ रही है कि हम मानते हैं कि मर जाने का मतलब अमरता का खत्म हो जाना है। मगर अमरता को इतिहास के आवरण में देखो तो आँखों के देखने की परिधि और व्यापक होगी। हम पाएँगे कि अमरत्व तो मरने के बाद जन्मा है, कबीर में, नानक में, मीरा में, सूर में तुलसी में और तमाम दिव्य व्यक्तियों में जिन्हें हमने मानव न मानकर देवों की, देवियों की प्रतिष्ठा देकर पूज दिया है।

ये सारे दिव्य व्यक्तित्व नेह के निर्झर में नहाए हैं। मैं तो कुछ पलों के लिए प्रणामों की इस गंगा में डूबता हूँ। नेह के छींटे मुझे आह्लादित कर जाते हैं और इस आह्लाद में मैं अपनी अमरता पा लेता हूँ, लेकिन कबीर और मीरा तो उस गंगोत्री के निर्झर में अनवरत नहाए हैं, जिसने गंगा को जन्मा है, उनकी तो हर साँस आजीवन डूबी रही, नेह के निश्छल सलिल में, उनकी अमरता शाश्वत है, जैसा अतीत ने सँजोया। वे न मरे, न मरेंगे। उन्होंने कुम्भ स्नान भले न किया हो पर अमरता ज़रूर पा ली।

बेहतर हो, कुम्भ लगें और हर बारहवें साल क्यों, हर रोज़ लगें और क्यों तीर्थों पर लगें, घर–घर लगें, ऐसे कुम्भ जो पारम्परिक पाषाणी आस्था से मुक्त हों, जिनकी आस्था प्राणवान हो और प्रार्थना जीवंत। ये प्रार्थनाएँ विकास की हों, उन क्षितिजों को छूने की हों, जो अछूते हैं अभी तक। इन कुम्भों में बसी आस्था प्रेरणा के आलोक सूर्य के रूप में समाहित हो और धरती पर उपलब्धियों की किरणों के रूप में बिखर जाए।

क्यों अवंतिका सिर्फ एक रहे और क्यों सिर्फ क्षिप्रा इकलौती। क्या ये एकवचनी पुण्य प्रतीक, बहुवचनी बन हर घर को पवित्र नहीं कर सकते ?

इस वर्ष उज्जयिनी में कुम्भ लगा है। करोड़ों लोग निरंतर स्नान करने भागे जा रहे हैं। रेलगाड़ियों में बसों में जगह नहीं मिलती और रास्तों पर भीड़ का समुद्र उमड़ आया है। क्षिप्रा के तट से निहारो तो लगता है, उसके समानांतर मानवीय भीड़ की एक और उफनती क्षिप्रा बह रही है, आस्था के प्रस्तरों की क्षिप्रा।

अवंतिका में बहती क्षिप्रा के समानांतर एक पाषाणी क्षिप्रा के प्रवाह को देखा जा सकता है। यहाँ पत्थर नदी में नहीं बह रहे, पत्थरों की नदी बह रही है, लेकिन बस में, रेलगाड़ी में, कुम्भ स्नान करने जाते हुए सारे लोग सामूहिक होकर भी अकेले हैं। हरेक को अपने पवित्र होने की अपने अमर होने की चिंता और मोह है।

कोई कुम्भ यात्री अपने बगल में बैठे सहयात्री से नहीं पूछता कि तुम क्षिप्रा स्नान कर कुम्भ का पुण्य लूटकर इस निधि का करोगे क्या ? क्योंकि सभी परिग्रही हैं। हरेक इस निधि को पाकर सिर्फ अपने लिए सहेजना चाहता है। कोई नहीं चाहता कि पुण्य की इस निधि का एकीकरण हो। सब साथ हैं, लेकिन सब अकेले हैं।

क्षिप्रा के तट पर लगी भीड़ और कतार में स्नान करने जाते यात्री, ऐसे एकाकी सूनेपन का बोध कराते हैं, जो किसी गाँव की पगडंडियों की याद दिलाता है। वहाँ के शोर में सन्नाटा है और भारी हलचल में किसी सिपाही की सावधानी मौन मुद्रा। यह ऐसा मेला है, जहाँ हरेक अकेला है।

हमारा देश कई मायनों में अनोखा है। इतना बड़ा देश और आस्था के इतने हिमालय, लेकिन ये हिमालय अस्थिर हैं, अडिग नहीं। मौका आने पर पत्थर–पत्थर जुड़कर हिमालय हो जाता है और बाद में दूर–दूर तक रेत के महीन कणों में बिखर जाता है। आस्था यदि पत्थर

न होकर चूना बने, जो श्रद्धा की रेत के एक–एक कण को बाँध ले अपने में, तो ऐसे कई अडिग हिमालय खड़े हो सकते हैं, जो देश की ऊँची प्राचीर बन जाएँ, ऐसी प्राचीर, जो सच्चे धर्म की साक्षी हो, जिस पर खड़े रहकर हमारा बोध सच्चे ईश्वर को देख सके।

आज आस्था और श्रद्धा जड़ हो गए हैं। न तो वे जीवंत हैं न गतिशील। वे सिर्फ प्रतीक भर रह गए हैं अपने अस्तित्व के। उनका यह प्राणहीन अस्तित्व हर बारहवें वर्ष किसी गंगा, क्षिप्रा या गोदावरी के तट पर हिमालय बन खड़ा हो जाता है और बाद में फिर बारह वर्षों के अंतराल के लिए ढह जाता है, बिखर जाता है। आस्था अडिग होती है और श्रद्धा उमड़ती है। दोनों में भेद बड़ा बारीक सा है। इस भेद को न जानने की वजह से भ्रांतियाँ होती हैं। आस्था एक न डिगने वाले शाश्वत विश्वास का नाम है और श्रद्धा ऐसे नेहमय सागर का, जिसका फैलाव अनंत है। जिस पर तर्क के कोई पुल नहीं बाँधे जा सकते। आस्था घनीभूत है और श्रद्धा विस्तीर्ण। आस्था मंदिर में विराजी मूर्ति है और श्रद्धा उस मंदिर के प्रांगण में खिला सुरभित उपवन। आस्था सूरज है और श्रद्धा किरणों का स्वर्णिम जाल।

आस्था अमरकंटक का गौमुख है, जिससे श्रद्धा की ऐसी नर्मदा निकलती है, जो आगे चलकर किसी भेड़ाघाट पर अपने दूधिया प्रपात बिखेर देती है। आस्था उत्स है श्रद्धा का।

भ्रांति यही है कि हम स्रोत और स्रोतास्विनी को मिलाकर, जोड़कर देखते हैं। फर्क़ नहीं कर पाते गंगोत्री और प्रयागराज की गंगा के उद्दाम प्रवाह में। हमारा यही जोड़कर दोनों को देखना, उन्हें और हमारी दृष्टि को जड़ बना देता है। हिमालय के अडिग प्रस्तर और उसके अंचल में बिखरी रेत दोनों अलग–अलग हैं। हमारी दृष्टि इन प्रस्तरों को खंडित कर रेत में बदल देती है, इसलिए या तो सिर्फ हर बारहवें साल हिमालय खड़े दीखते हैं आस्था के या उसके बाद दीखती है, केवल रेत ही रेत।. आस्था को रेत में बदलने देना, आस्था और श्रद्धा दोनों के प्रति अन्याय है।

होना यह चाहिए कि हम दोनों को जोड़कर ज़रूर देखें, लेकिन यह जुड़ाव पक्का हो, स्थिर हो, प्राणवान और जीवंत हो और यह तभी होगा, जब हमारी आस्था हमारी श्रद्धा की बिखरी बालू को जोड़ने के लिए चूने का काम करेगी। तब दोनों हमेशा के लिए एक होंगे। आस्था और उसके प्रति समर्पित श्रद्धा दोनों कुछ अर्से के लिए मिलकर फिर बिखरेंगे नहीं। आस्था मूर्ति में होगी, आयतों में होगी, गुरुवाणी और प्रेयर में होगी, लेकिन उससे जन्मी श्रद्धा की परिधि में पूरी मानवता आएगी। ऐसा नहीं होगा कि आस्था मूर्ति में और आयतों में रहे, लेकिन श्रद्धा के दायरे में सिर्फ मोहन रहें मोहम्मद नहीं, रहीम रहें राम नहीं, ईसा रहें और बाक़ी कोई न रहे। श्रद्धा का विभाजन अंतहीन होगा।

जब श्रद्धा बँटती है तो यह बँटवारा बड़ा निर्मम होता है। यह बँटवारा सच्चा धर्म नहीं बाँटता, यह समूची मानवता के अंग ही अलग–अलग हिस्सों में बाँट देता है, फिर इस बँटवारे से जन्मते हैं आतंकवाद, बाबरी मस्जिद के विवाद और तरह–तरह की यात्राएँ, जो पोरस के हाथियों की तरह श्रद्धा के अपने सिपाहियों को ही रौंद डालती हैं।

कुम्भ के इस पर्व में, मैं क्षिप्रा के तट पर खड़ा लाखों की विराट जमदाग्नि को स्नान करते ज़रूर देख रहा हूँ, लेकिन आकंठ पाषाणी आस्था में डूबे लोगों के रूप में मुझे यांत्रिक–सी देहें भर दीखती हैं।

इन देहों पर मुझे कहीं नेह की बूंदों के छींटे दिखाई नहीं देते।

मैं उस कुम्भ की बाट जोह रहा हूँ, जिसके आने पर श्रद्धा के अमृत प्रवाह में अपनी अडिग आस्था को सँजोए कोई मीरा आपाद मस्तक स्नान करते कर्म के साक्षात ईश्वर को मोल ले लेगी, उसे समूची मानवता के बीच बाँटने के लिए और शाश्वत स्वरों में अपनी जननी को सम्बोधित करते हुए गा उठेगी :

माई री मैंने गोविंद लीन्हों मोल।

बीते बरस, आए बरस

तुम फिर बीत गए मेरे बरस। बीत जाना ही तुम्हारी नियति है। तुम सिर्फ अतीत ही बने रह सकते हो। तुम भविष्य नहीं बन सकते। भविष्य शायद तुम बनना भी पसंद न करो क्योंकि तुम आशंकित रहते हो उसके प्रति।

तुम्हारी पूँजी तो सिर्फ वर्तमान है, जिससे व्यवसाय कर तुम अपनी जीविका चलाते हो और जब वह व्यवसाय बंद हो जाता है तो यह पूँजी अतीत के बैंक में रख दी जाती है जिसके ब्याज से तुम इतिहास के नगर में एक छोटा–सा घर बनाकर रहते हो।

आज तुम्हारी दुकान पर ताला डल गया। इतिहास के नगर में तुम्हारा घर तैयार है जिसमें तुम गृह प्रवेश करोगे और एकाकी जीने लगोगे। तुम बहुत कम प्रासंगिक रह पाओगे। लोग विस्मृत कर देंगे तुम्हें, तुम्हारी याद किन्हीं संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में उठा करेगी तब किसी मेहमान कलाकार की तरह कुछ पलों के लिए तुम पर्दे पर आओगे और फिर ओझल हो जाओगे।

जब तुम बीत जाते हो तो दुनिया तुम्हारी सफलता और असफलता का आकलन करती है। ताज्जुब की बात है कि यही दुनिया तुम्हारे दिनों को सँवारने में कोई योगदान नहीं देती। तुम अपने पौरुष से जो कुछ हासिल कर पाए बस उस पर उँगली उठा देती है। तुम कुछ कह भी नहीं सकते क्योंकि दुनिया की यही रीत है और दुनिया चाहे अपने आपको तोड़ दे अपनी रीत नहीं तोड़ सकती।

तुम्हारे बीतने पर सब तुम्हें कोसने लगते हैं। यह कोई नहीं सोचता कि तुमने अपने हर दिन को बेहतर बनाने के लिए कितनी कोशिशें कीं। लोग यही समझते हैं कि सूरज अपने आप उग आता होगा। उन्हें शायद यह नहीं मालूम होगा कि तुमने जाने कितने सूरज तराशे होंगे और रौशनी की गंगा को कितनी तपस्या के बाद इस धरा पर उतारते रहे होंगे। तुम बड़े अभागे भागीरथ हो। गंगा का तो नामकरण भागीरथ के नाम पर हो गया लेकिन तुम्हारी कोशिशों से उतारी गई रौशनी की गंगा पर तुम्हें छोड़ सबके नाम लिखे हैं।

शायद तुम्हें याद हो, आज से 365 दिन पहले जब पहले पहल तुम इस धरती पर उतरे थे, तब कितना सम्मान हुआ था तुम्हारा। तुम्हें हाथों हाथ उठाया गया था। कितना जश्न मनाया गया था। वे प्याले खाली ही नहीं हो रहे थे जिनमें तुम्हारे आने की खुशी में शराब छलक रही थी लेकिन आज जब तुम जा रहे हो वही प्याले तुम्हारा नाम सुनने को तैयार नहीं। वे फिर आज लबरेज़ हैं मगर तुम्हारे लिए नहीं, उनकी खुशी का सबब है आने वाला बरस। प्याले बड़े बेवफा और स्वार्थी होते हैं। वे कभी अतीत का साथ नहीं देते। वे आने वाली उम्मीदों के सम्मान में छलकते। गुज़री आशाओं के लिए उनके मन में कोई जगह नहीं होती। अच्छा हुआ जो आज तुम्हारा भरम टूटा। भरम जितनी जल्दी टूट जाए उतना अच्छा होता है। अब तुम बिना किसी अपेक्षा के जीओगे और यही जीवन का सबसे बड़ा वरदान है। वर्ना जाने

कितनी ज़िंदगियाँ अपेक्षाओं के भरम में अपेक्षाओं के बीच जीते–जीते खत्म हो जाती हैं। तो अलबिदा मेरे बीते बरस। जाओ अपने घर में और संदर्भों की राह देखो।

मैं तुम्हें जाते और आने वाले बरस को आते देख रहा हूँ। कितना छोटा–सा है यह। नन्हा, गुदगुदा और अनजान। हौले–हौले ठुमकता चला आ रहा है। उसे गुमान नहीं है आने वाले समय का। शायद वह नहीं जानता कि आजकल के बरसों को पैदा होते ही प्रौढ़ हो जाना पड़ता है। आजकल के बरसों का कोई शैशव नहीं होता, कोई जवानी नहीं होती। हादसे इतनी तेज़ी से घटते हैं कि उन्हें तुरंत प्रौढ़ हो जाना पड़ता है। शायद वह नहीं जानता कि जो लोग आज उसके आने की खुशी में जाति, धर्म और भाषा को भूलकर बड़े प्यार से उसकी अगवानी कर रहे हैं, कल वे ही अपने कारनामों से उसे रक्तरंजित कर देंगे। उसे नहीं मालूम कि उसके तराशे हुए सूरजों को लहू से रँगने में यही लोग पूरी ताकत से जुटेंगे और कोशिश करेंगे कि इस बरस की रौशनी की कोई चादर बेदाग़ न रहने पाए।

बरस चाहे कोई हो, आने वाला या जाने वाला, बड़ा भोला और निश्छल होता है। वह तो समय की मिट्टी को रूँधकर दिनों के रूप में हमारे सामने रख देता है। फिर इस मिट्टी से हम कौन–सी और कैसी मूरत बनाएँ या इस मिट्टी को बेवजह बहा दें। यह हम पर निर्भर करता है। हाल के इतिहास की गवाही है कि इस मिट्टी से हमने कोई रूपहली मूरतें नहीं गढ़ीं। हमने या तो इस मिट्टी को बहा दिया या हिंसक दानवों की भयावह मूरतें गढ़ डालीं, जिन्हें देखकर हम खुद ही डरते हैं।

बरस तो बहुत मिन्नत करता है कि इस मिट्टी से रूपहली मूरतें गढ़ी जाएँ, क्योंकि उसे भी तो इतिहास के नगर में अपना मकान बनाकर इज़्ज़त के साथ रहना है। लेकिन हम उसके गिड़गिड़ाने पर ध्यान नहीं देते और जुनून में इस मिट्टी से दैत्यों की मूरतें गढ़ते जाते हैं। बरस अभिशप्त होता है यह झेलने को। जिस मिट्टी को उसने बड़े नेह से रुँधकर हमारे सामने रखा वही मिट्टी भयावह आकारों में हमने बदल डाली। यह भी कितनी विडम्बना है कि हम बड़ी उत्सुकता के साथ नए बरस के आने की बाट जोहते हैं और जब वह आ जाता है तो उसमें समाए हर दिन को रात में बदल देने की कोशिश करते हैं। जाने कितने दशक बीत गए, कोई बरस उपलब्धियों का बरस नहीं बन पाया। सारे वर्ष अमावस के खाते में गए। उजास अपनी कोरी बही लिये आज भी खड़ी है। यह क्या हो गया सम्वेदना को कि बरस देखते–देखते यों बीत जाता है जैसे उसके कोई सरोकार किसी से नहीं है। सम्वेदना का बरस की ज़िंदगी से कोई तादात्म्य ही नहीं रह गया। बरस बीत जाता है और सम्वेदना निस्पृह खड़ी रहती है।

पहले तो हर आने वाले बरस की अगवानी करने के लिए सम्वेदना आशाओं के दीप से सजी आरती लिये खड़ी रहती थी। बरस आता था तो उसकी आरती उतारते उसे असीसती थी और फिर यह बरस किसी बुद्ध को या महावीर को अपनी उपलब्धि के रूप में गढ़ दिया करता था। बुद्ध या महावीर बरस की आशा के ऐसे स्थिर दीप हैं जिनकी निष्कम्प आलोक शिखा से आज भी उजास का निर्झर बहता है।

लेकिन अब ऐसे बरस आते नहीं। इसमें इनका नहीं हमारा दोष है। हमारे अंदर की सम्वेदना जड़ हो गई, उसके हाथ अब आशा की आरती नहीं थामते। आशा के दीप ढलना बंद हो गए। हम न तो भोर की ओस का आचमन करते हैं और न ही साँझ की लालिमा को अर्पित करते हैं, अपने अर्घ्य। भोर और साँझ हमारे लिए मात्र समय के बीत जाने के संकेत भर हैं। इसलिए अब ऐसे बरसों का आना ही बंद हो गया जिन्होंने कुछ उपलब्धियाँ सहेज रखी हों।

इन बरसों का ऐसे आकर अतीत बन जाना ठीक नहीं। बरसों का यह रीतापन न तो हमारे लिए और न ही आने वाली पीढ़ियों के लिए शुभ संकेत हैं। जो बरस आते हैं वे हमारी उपलब्धियों की धरोहर होने चाहिए, रीते घर नहीं।

नया वर्ष आए तो वह ऐसे आए कि उसकी आहटों से महसूस हो कि कोई ऐसा गीत चला आ रहा है जिसके शब्द–शब्द समय के पोर–पोर में स्वरों की गंध घोल देंगे। वह आए तो ऐसा लगे जैसे उजास की गंगा आकाश से अपने पाँवों में तारों से जड़ी पायल बाँधकर इस धरती को जगमग करने उतर पड़ी हो। उसके आगमन से यह अनुभव हो कि अब आने वाला समय हमारी नियति के बंद द्वारों पर खड़े दुर्भाग्य के प्रहरियों का अंत कर देगा और फिर उस द्वार से विश्वास के वासुदेव के कंधों पर विराजे उपलब्धि के कृष्ण निकल पड़ेंगे।

हर नया वर्ष उपलब्धि के एक नए कन्हैया का साक्षी वर्ष होना चाहिए।

मगर इन कल्पनाओं से कुछ नहीं होगा। जो कुछ होगा वह अपनी सामर्थ्य और अपने पौरुष से होगा। अपनी संकल्प शक्ति से होगा। उस कर्म से होगा जिसके बल पर वेणुगोपाल, गीता के कृष्ण बनते हैं, राम, मर्यादा पुरुषोत्तम और सिद्धार्थ, बुद्ध। कर्म, संकल्प, पौरुष और सामर्थ्य सिर्फ शब्द भर नहीं हैं। वे ऐसी नियामक शक्तियाँ हैं जो संसार की नियति बदल देती हैं, भाग्य के रथ चक्रों को मोड़कर उनकी दिशा बदल देती हैं, जीवन का प्रवाह बदल देती हैं और उन सन्नाटों का दम्भ तोड़ देती हैं जिनकी हुकूमत सदियों से जनमानस के कंठों पर चलती आई हैं।

तो इस नए वर्ष का स्वागत इन्हीं नियामक शक्तियों के फूलों से गुँथी माला से करें और उम्मीद करें कि इस नए वर्ष में कंठों पर किसी सन्नाटे की हुकूमत नहीं होगी और हमारे स्वर पूरी स्वतंत्रता के साथ मुखरित होंगे। निराला की भी यही कल्पना थी :

गूँजो फिर से तुम, रुद्र कंठ सामगान।